12.2
और
संस्कृति

संस्कृत और संस्कृति

संस्कृत और संस्कृति

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद

मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली :: वाराणसी :: पटना
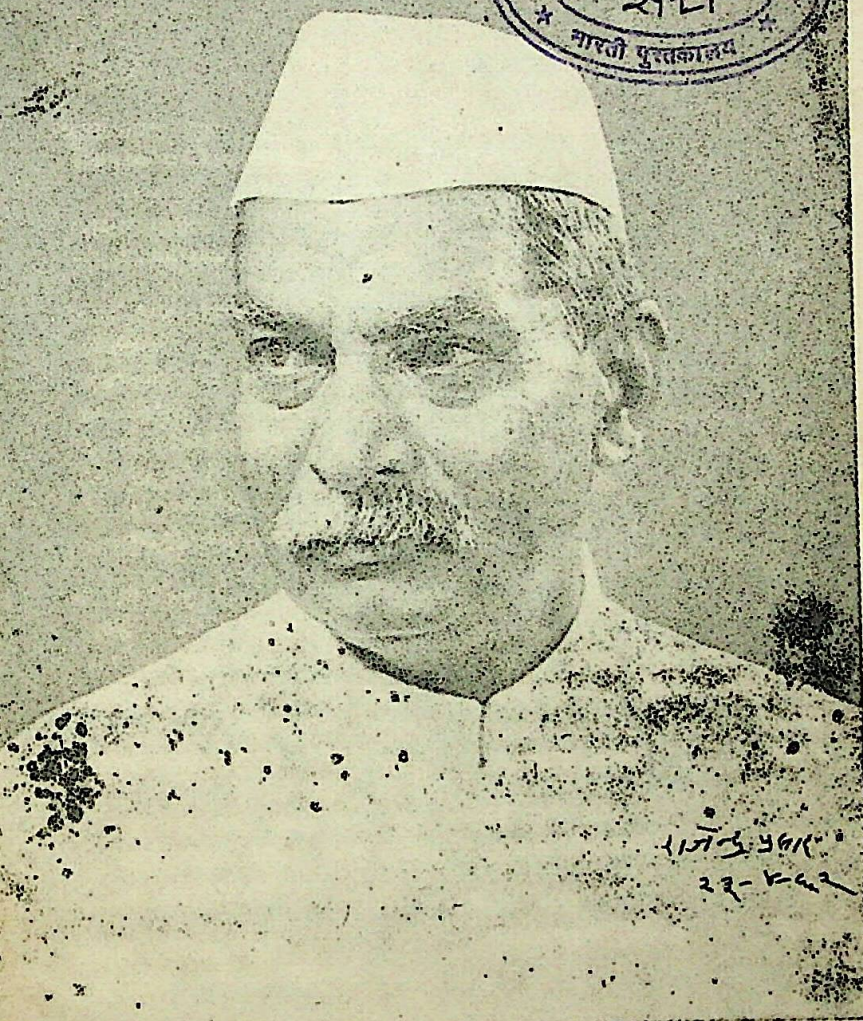
डा० राजेन्द्र प्रसाद

आमुख

आज से कोई २१ वर्ष पहले दरभंगा-नरेश महाराजाधिराज श्री कामेश्वर सिंह जी के निमंत्रण पर मैं ने श्री मिथिलेश महेश रमेश व्याख्यानमाला में संस्कृत के अध्ययन की उचित दिशा पर दो भाषण दिये थे। मैं संस्कृत का विद्वान तो हूँ नहीं। भाषणों में मेरी मौलिकता कुछ नहीं थी। संस्कृत के माने-जाने विद्वानों की पुस्तकों से चयन और संकलन करके मैं ने भाषण तैयार किये थे। बहुत करके तो उनके शब्दों को ही उठा कर उद्धृत कर दिया था। भाषण बहुत लोकप्रिय हुए और कुछ दिनों बाद ही "भारती प्रकाशन" ने उन्हें पुस्तकाकार प्रकाशित किया। पुस्तक को हिन्दी संसार से यथेष्ट आदर मिला और उसके दो संस्करण निकल गये। इसी बीच कई विद्वानों ने मुझे राय दी कि संस्कृत के उन अंगों पर, जिन पर भाषणों में मैं प्रकाश न डाल सका था, मैं कुछ लिख कर तृतीय संस्करण में जोड़ दूं। इससे पुस्तक की उपादेयता बहुत ही बढ़ जायगी। विचार मुझे अच्छा लगा, लेकिन अवकाश की इतनी कमी रही कि आज कल करते एक युग बीत गया। अन्ततः पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने मेरे आग्रह पर पुस्तक के संशोधन का भार लिया। इस काम को जिस खूबी से उन्होंने निबाहा है उसके लिये मैं उनका अत्यन्त आभारी हूं। मोतीलाल बनारसीदास ने इसके प्रकाशन में जो तत्परता और कार्यकुशलता दिखाई है, उसके लिये वे भी धन्यवाद के अधिकारी हैं। आशा है पुस्तक का यह नया संस्करण, जिसमें बहुत कुछ बिल्कुल नया है, एक निश्चित मांग की पूर्ति करेगा।

राजेन्द्र प्रसाद

राष्ट्रपति भवन,
नई दिल्ली-४।
मई ३, १९६२

विषय-सूची

विषय | पृष्ठ

पहला अध्याय

संस्कृत-भाषा की पूर्णतया तथा उसके वाङ्मय का विस्तार और महत्त्व

दूसरा अध्याय

संस्कृत वाङ्मय में विज्ञान

तीसरा अध्याय

संस्कृत वाङ्मय और कला

चौथा अध्याय

संस्कृत वाङ्मय और भारतीय इतिहास की खोज

पाँचवाँ अध्याय

उपसंहार

चित्र-सूची

ग्रन्थ-निर्देश

ओझा, महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचंद—

(१) भारतीय प्राचीन लिपिमाला, द्वितीय संस्करण, अजमेर १९७५ वि०

(२) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, प्रयाग, १९२९ ई०।

कृष्णदास, राय—

(१) भारतीय मूर्त्तिकला, काशी, १९९६ वि०।

(२) भारत की चित्रकला, काशी, १९९६ वि०।

दत्त, विभूतिभूषण—

वैदिक मैथेमैटिक्स (कल्चरल हेरिटेज आफ़ इंडिया जि० ३, पृ० ३७८ आदि), कलकत्ता, १९३८ ई०।

द्विवेदी, पं० सुधाकर—

(१) चलन कलन, बनारस, १८८६ ई०।

(२) गणित का इतिहास, बनारस, १९१० ई०।

मैक्डोनल, सर आर्थर एंटोनी—

इंडियाज पास्ट, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

विद्यालंकार, जयचंद्र—

(१) भारतीय इतिहास की रूपरेखा, प्रयाग १९३३ ई०।

(२) भारतीय वाङ्मय के अमर रत्न, प्रयाग, १९३३ ई०।

(३) इतिहास प्रवेश, प्रयाग, १९३८ ई०।

शामशास्त्री संपदित—

वेदांग ज्योतिष, भूमिका, मैसूर, १९३६ ई०।

शास्त्री, मंगलदेव—

संस्कृत साहित्य का इतिहास, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

शील, डा० ब्रजेंद्रनाथ—

पॉजिटिव साइंसेज़ आफ दि एंश्यंट हिंदूज़, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

सरकार, डा० विजय कुमार—

हिन्दू एचीवमेंट इन एग्जैक्ट साइंस, लन्दन, १९१८ ई०।

सेनगुप्त, एस० पी०—

हिन्दू एस्ट्रानोमी (कल्चरल हेरिटेज आफ इंडिया, जि० ३ पृ० ३४१ आदि), कलकत्ता, १९३८ ई०।

: १ :

संस्कृत भाषा की पूर्णता तथा उसके वाङ्मय का विस्तार और महत्त्व

१. संस्कृत का ज्ञान-भांडार, उसका मूल्य

संस्कृत के विशेषज्ञ विद्वानों की मंडली में मेरे लिए कुछ कहना कठिन समस्या है। मैं इसके लिए सर्वथा अयोग्य हूँ और अगर मेरा वश होता तो मैं इस अनधिकार चेष्टा का अपराधी न होता। पर महाराजाधिराज बहादुर के आग्रह और पंडितप्रवर ईश्वरीदत्त दौर्गादत्तिजी के अनुरोध को मैं नहीं टाल सका और अविज्ञ होकर भी विज्ञों को सम्बोधित करके कुछ कहना चाहता हूँ।

यद्यपि अविज्ञ हूँ, पर संस्कृत विद्या पर मेरी अगाध श्रद्धा है, क्योंकि इसमें ज्ञान का भांडार है और एक समय था, जब वह भांडार संसार में अपना जोड़ नहीं रखता था और आज भी जब आए दिन नए आविष्कारों के चमत्कारपूर्ण, मानव जाति के लिए सुखद और दुःखद फल देखने में आया करते हैं, उस भांडार में से ढूंढ-ढूंढकर कुछ ऐसी मूल्यवान वस्तुएँ निकाली जा सकती हैं, जिनको संसार ने अभी तक नहीं पाया है। इसलिए यदि मैं उसकी महिमा के गुणगान के साथ कुछ त्रुटियों की ओर भी ध्यान दिलाऊँ तो मुझे भरोसा है कि विद्वान् लोग क्षमा करेंगे। रोग दूर करने के लिए कड़वी घूंटें भी पीनी पड़ती हैं और पके घाव पर नश्तर भी लगाना पड़ता है।

संस्कृत विद्या की महिमा हम भारतवासी पूरी तरह नहीं जानते। उसके अमर रत्न ऐसे नहीं हैं, जो केवल दिखावे के लिए आभूषण-मात्र का ही काम देते हों, जिनसे शोभा तो कुछ बढ़ती हो, पर मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति न हो सकती हो। उनमें वह संजीवनी शक्ति भी है, जो मृतप्राय शरीर में भी जान डाल सकती है, पर वह शक्ति तभी उपयोग में लाई जा सकती है, जब उनको ठीक उसी तरह शोध और साध लिया जाय, जिस तरह मोती, पन्ना, हीरा और दूसरे जवाहरात को शोध-साध कर ही चतुर वैद्य औषध के रूप में उपयोग करता है और अश्रुत फल दिखलाता है। हमको यह मान लेना चाहिए कि संसार में विद्वान् लोग नई चीजों के आविष्कार में अनादिकाल से लगे चले आ रहे हैं। हमारे पूर्वज ऋषियों और तपस्वियों के अथक और अनवरत परिश्रम और खोज का ही फल संस्कृत साहित्य के भांडार में पड़ा है और यदि हम उसके महत्त्व को समझते और उसमें लगे रहते तो आज भी हम किसी से पीछे न रहते। आज हमको अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच में लिखे ग्रंथों पर निर्भर होने की जरूरत न पड़ती; पर यह निर्विवाद है कि आधुनिक विद्या से अनुराग रखनेवाले केवल संस्कृत का ज्ञान लेकर ही संतुष्ट नहीं हो सकते—उनकी भूख इससे पूरी नहीं हो सकती और न वे संसार की प्रगति से पूरा परिचय प्राप्त कर सकते हैं। किसी ज़माने में संस्कृत यहाँ की बोलचाल की भाषा रही हो, पर वह दिन बीते बहुत ज़माना हो चुका। संस्कृत शब्द ही इस बात का द्योतक है कि साधारण जनता की बोलचाल की चीज नहीं, पर विद्वानों की भाषा ही वह बहुत दिनों से बन कर रही है। आज तो यह कहना भी गलत नहीं है कि उसका अभ्यास, धार्मिक प्रवृत्ति न हो तो, बहुतों को अनावश्यक जान पड़ता है। इसलिए हम अगर उसके महत्त्व को न समझें और उसमें पूरी श्रद्धा न रखें, तो आश्चर्य की बात नहीं है। विद्या केवल ज्ञान के लिए थोड़े ही लोग प्राप्त करते हैं—अधिकांश जनसाधारण उसके अर्थकरी होने के कारण ही उसे

अपनाता है । संस्कृत विद्या आज अर्थकरी विद्या नहीं है और अनेकानेक संस्कृत विद्वानों की संतान भी उसे छोड़ दूसरे प्रकार की विद्या की प्राप्ति के लिए ही समय और श्रम लगाती है। इसलिए यह विचारणीय विषय है कि इस विद्या की ओर लोगों की श्रद्धा क्यों और किस प्रकार प्रोत्साहित की जाय ।

संस्कृत का अभ्यास और पठन-पाठन क्यों प्रोत्साहित किया जाय ? इस प्रश्न का उत्तर थोड़े में यही है—क्योंकि उसके भांडार में अमूल्य रत्न पड़े हैं, क्योंकि हमारी संस्कृति और सभ्यता का स्रोत इसी से निकला है और आज तक जारी है, क्योंकि हम मानते हैं कि मानव समाज की आज की विक्षिप्त अवस्था में शायद इसमें कुछ ऐसा मिल जाय जो शांतिप्रद औषध का काम दे, क्योंकि हम मानते हैं कि आज भी हम संसार में इसी के कारण जीवित हैं और भविष्य में भी जीवित रहेंगे, क्योंकि अपने भविष्य को उज्ज्वल बनाने के लिए हमें यह जान लेना आवश्यक है कि हम कैसे और क्यों पीछे पड़ गए और हमारी प्रगति कैसे अवरुद्ध हो गई। इस विषय पर थोड़ी विवेचना आवश्यक है।

संसार के विद्वानों ने मुक्तकंठ से इस बात को स्वीकार किया है कि सबसे प्राचीन ग्रंथ, जो मनुष्यमात्र को आज उपलब्ध हैं, वे हमारे वेद हैं। हम धार्मिक भाव से उनको अनादि मानते हैं, पर जो विदेशी लोग वह धार्मिक भावना नहीं रखते, वे भी इस बात को मानते हैं कि उनसे प्राचीन दूसरे कोई ग्रन्थ नहीं हैं। यह भी मानी हुई बात है कि एक समय था, जब हमारे पूर्वज संसार के किसी भी देश के विद्वानों का केवल मुकाबला ही नहीं कर सकते थे, बल्कि देश-विदेश के विद्वान् उनको गुरु मानकर उनके यहाँ विद्या सीखने आया करते थे और भारतीय विद्वान् विदेशों में आमंत्रित किए जाते थे और वहाँ अपनी विद्या का प्रचार किया करते थे। यह भी निर्विवाद है कि बहुत विषयों में हमारे विद्वानों ने जो ज्ञान प्राप्त किया था, वह अपने समय में किसी भी देश के विद्वानों के ज्ञान से कम

नहीं था। साथ ही यह भी निर्विवाद है कि यह ज्ञान का स्रोत रुक गया और प्रायः पिछले हजार बरसों में उसमें से किसी प्रकार की वृद्धि नहीं हुई। यह कहना अनुचित है कि संसार में कुछ अधिक जानने को था ही नहीं, अथवा हम में वह योग्यता नहीं रह गई थी कि हम उस ज्ञान की अभिवृद्धि कर सकते। हाँ, इसके कारण कुछ अवश्य हुए होंगे कि इतनी दूर तक पहुँच कर हमको क्यों रुक जाना पड़ा; और आज यह भी विचारणीय है कि क्या हम उस कारण को दूर कर सकते हैं और प्रगति का अवरोध हटा कर इस देश और जाति को फिर उस रास्ते पर प्रगतिशील बना सकते हैं? कौन कह सकता है कि यदि हमारे आचार-विचार वैसे ही होते जैसे होने चाहिए थे, अथवा उस समय में थे, जब हमने इतनी उन्नति की थी, तो आज संसार के सामने उस विषम समस्या का कोई हल हम न बतला सकते, जिसके कारण आज इतनी उथल-पुथल और खून-खराबी हो रही है?

आइए, पहले हम देखें कि संस्कृत साहित्य में कौन-कौन से अमूल्य रत्न भरे पड़े हैं, उनकी क्या कीमत है और उनकी क्या उपयोगिता रही है।

२. संस्कृत का भाषा-विज्ञान, व्याकरण, वर्णमाला, लिपि और अंक

अंग्रेजी राज्य की स्थापना हुए आज प्रायः १७५ बरस हो चुके हैं। अंग्रेजों में से कतिपय विद्वानों ने हमारे ग्रंथों का पठन-पाठन प्रायः १५० बरस हुए आरम्भ किया और वारेन हेस्टिंग्स के समय में ही एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल कायम की गई। सर विलियम जोन्स प्रभृति विद्वानों ने संस्कृत साहित्य के भांडार को देखना और उसकी कीमत आँकना आरम्भ किया। यूरोप के अन्य देशों में भी—विशेषकर, जर्मनी, फ्रांस और रूस में—वहाँ के विद्वान् संस्कृत का अभ्यास करने लगे और इन १५० बरसों में उन्होंने अपनी भाषाओं में अनगिनत ग्रन्थ लिख डाले

हैं। हमारे देश में आकर अथवा वहीं ग्रन्थों को मंगवा कर उनके मंथन में वे इतने दत्तचित्त हुए कि बहुत चीजों में हमारे देश के लोगों का ध्यान भी पहले-पहल उन्होंने ही आकर्षित किया। इस देश से कितनी हस्त-लिखित पुस्तकें वे ले गए। आज यूरोप के किसी-किसी संग्रहालय में तो इतने संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थ मौजूद हैं, जितने हिन्दुस्तान में भी बिरले ही स्थानों पर हैं। उन्होंने संस्कृत का अभ्यास केवल मनोविनोद के लिए नहीं किया। इस भाषा के ज्ञान पर ही आज के यूरोपीय भाषा-विज्ञान (Philology) की नींव पड़ी है। संस्कृत का अभ्यास करने पर ही उन्होंने उसमें और यूरोपीय भाषाओं में वह संबंध देखा जिससे वे संस्कृत, फारसी, लातिनी, यूनानी, स्लाव, त्युतोनी, केल्ती इत्यादि भाषाओं को एक वंश की बतला सके। इसी ज्ञान ने संसार में सभी भाषाओं के अध्ययन का एक दूसरा नया और व्यापक कारण प्रस्तुत कर दिया। भाषा द्वारा मनुष्यमात्र के भूले इतिहास को जानने का एक प्रशस्त और अचूक रास्ता मिल गया। आज इसी रास्ते पर चल कर खोज करते हुए वे मानव-समाज के उस अतीत का, जो बहुत कुछ भूला जा चुका था, चित्र खींच सके हैं और उसे हमारे सामने पुनर्जीवित करके दिखला सके हैं। पश्चिमी विद्वानों द्वारा संस्कृत के अभ्यास ने केवल भारत-वर्ष के लिए ही नहीं, सारे संसार के लिए भाषा-विज्ञान और पुरातत्त्व इन दो नए प्रकार की विद्याओं की नींव डाल दी, और आज इनकी बड़ी-बड़ी और सुन्दर इमारतें तैयार हो गई हैं और दिन-प्रतिदिन नई इमारतें उस नींव पर बनती जा रही हैं।

वह भाषा-विज्ञान यूरोप के लिए और संसार के लिए इस विषय में एक नई चीज है कि इसमें तुलनात्मक दृष्टि से विभिन्न भाषाओं के विकास और प्रगति की समीक्षा की जाती है और व्यापक नियम ढूंढ़ निकाले जाते हैं। पर ऐसी बात नहीं है कि संस्कृत में भाषा-विज्ञान का सर्वथा अभाव था। निरुक्त अगर भाषा-विज्ञान नहीं है तो और क्या है?

आज से न मालूम कितने दिन पूर्व व्याकरण और निरुक्त इस देश में पराकाष्ठा तक पहुँचा दिए गए थे। संस्कृत भाषा में वह शक्ति है कि आज के नए से नए विचारों और भावों को वह आसानी से व्यक्त कर सकती है और आज भी, जब हम किसी भी बोलचाल की भाषा में उन्हें व्यक्त करना चाहते हैं, तो संस्कृत शब्दों की ही शरण लेते हैं। आरम्भ में यह भाषा इतनी शक्तिशाली या इतनी परिमार्जित नहीं रही होगी। हमारे पूर्वजों ने छानबीन करके और भाषा के विकास के नियमों का अध्ययन करके ही इसे संस्कृत बनाया और तब उन नियमों को व्याकरण का रूप दिया, जो आज भी इसका नियंत्रण करते हैं। भाषा का विकास इसी प्रकार होता है और हमारे पूर्वजों ने ऐसे समय में इन नियमों को रूप दे दिया था, जब शायद संसार में अन्य किसी भाषा को वैसा रूप नहीं मिला था। पाणिनि ऋषि की कृति इस दृष्टि से अनोखी वस्तु है, पर हमको यह भी मानना होगा कि यदि हमारी प्रगति अवरुद्ध न हो गई होती तो पाश्चात्त्य विद्वानों का नया भाषा-विज्ञान ईसवी उन्नीसवीं शताब्दी में, और यूरोप में, पैदा न होकर सैकड़ों बरस पहले भारत में पैदा हुआ होता। महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचंद ओझा लिखते हैं—"पाणिनि के पूर्व यास्क ने निरुक्त लिखा, जिसमें औदुम्बरायण, क्रौष्टुकि, शतबलाक्ष मौद्गल्य, शाकपूणि, शाकटायन, स्थौलाष्ठीवि, आग्रायण, औपमन्यव, और्णवाभ, कात्थक्य, कौत्स, गार्ग्य, गालव, चर्मशिरस्, तैटीकि, वार्ष्यायणि और शाकल्य नामक वैयाकरणों और निरुक्तकारों के नाम, और मत का उल्लेख मिलता है, जिनमें से केवल गार्ग्य, शाकटायन, गालव और शाकल्य के नाम पाणिनि में मिलते हैं, जिससे अनुमान होता है कि पाणिनि और यास्क के पूर्व व्याकरण ओर निरुक्त के बहुत से ग्रन्थ उपलब्ध थे, जिनमें से अब एक भी उपलब्ध नहीं है।"[1]

---

१. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, दूसरा संस्करण (अजमेर १९७५ वि०), पृ० ८।

शब्दों के उच्चारण के विज्ञान की हमारे यहाँ बड़ी उन्नति हुई थी और उसी के आधार पर व्याकरण की सृष्टि हुई थी। हमारी वर्णमाला अद्भुत है। उन सभी भाषाओं में, जो कुछ भी साहित्य रखती हैं, वर्णमाला है; पर जितनी बारीकी के साथ स्वरों का अभ्यास हमारी वर्णमाला के बनाने में किया गया है, उतनी बारीकी और वैज्ञानिकता किसी दूसरी वर्णमाला में नहीं है। जितने प्रकार की ध्वनियाँ हो सकती हैं, सब के लिए अक्षर होने चाहिएँ और एक ध्वनि के लिए एक ही अक्षर होना चाहिए। यह गुण संस्कृत वर्णमाला में ही है, और शायद किसी भी दूसरी वर्णमाला में नहीं है। यह चमत्कार कुछ अनजाने नहीं हो गया। उस विद्या का विधिपूर्वक अभ्यास किया गया, तभी वह इतनी परिपूर्ण और सुन्दर बन सकी।

वर्णमाला बनना और प्रत्येक वर्ण के लिए एक चिह्न निकालना दो बातें हैं। एक वर्ण को व्यक्त करने के लिए जो चिह्न हम इस्तेमाल करते हैं, वही लिपि है। लिपि का आविष्कार न मालूम कब हुआ। विद्वानों का कहना है कि उसको बने भी कई हजार वर्ष हो चुके और भारतीय लिपिमाला भारत में ही बनी—किसी विदेश से नहीं आई। एक यूरोपीय विद्वान् बुइलर ने यह कहा कि हमारी ब्राह्मी लिपि विदेश से आई हुई थी। कुछ समय के लिए लोग उनकी बात में बह गए, पर महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने अकाट्य प्रमाणों से सिद्ध कर दिया कि यह विचार निर्मूल है और हमारी लिपि का जन्म हमारे देश में ही हुआ है। उन दिनों किस प्रकार और किस चीज पर लिखा जाता था, इसका भी उल्लेख मिलता है; पर इसका इतना पुराना प्रमाण नहीं मिलता, जितना इस बात का कि लोग लिखना जानते थे। पुरातत्त्व के लेख अब पत्थरों और धातुओं पर ही मिलते हैं अथवा पुराने सिक्कों पर या पुरानी वस्तुओं पर, जो कहीं खुदाई करके पुराने स्तूपों और खँडहरों से निकाली गई हैं। इतने पुराने कागजों के बचने की तो

आशा ही नहीं की जा सकती। यहाँ तालपत्र, भोजपत्र आदि पर बहुत कुछ लिखने की परिपाटी चली आती है, पर रुई से कागज बनाना विदेशियों ने भारतवर्ष में आज से २२००–२३०० बरस पहले देखा था और अपने ग्रंथों में इसका उल्लेख भी उन्होंने किया है।[1]

लिपि का आविष्कार और प्रचार इस प्रकार वैदिक काल से ही हुआ है। साथ ही साथ अंक का आविष्कार भी उसी पुराने ज़माने में हुआ। ओझाजी लिखते हैं।

"यजुर्वेद संहिता (वाजसनेयी) के पुरुषमेध प्रकरण में भिन्न-भिन्न पेशेवाले बहुत से पुरुष गिनाए हैं वहाँ 'गणक' भी लिखा है, जिसका अर्थ गणित करनेवाला (गण् धातु से) अर्थात् ज्योतिषी होता है। उसी संहिता में एक, दस (१०), शत (१००), सहस्र (१०००) अयुत (१००००), नियुत (१०००००), प्रयुत (१००००००), अर्बुद (१००००००००), न्यर्बुद (१०००००००००), समुद्र (१००००००००००), मध्य (१०००००००००००), अंत (१००००००००००००), और परार्ध (१०००००००००००००) तक की संख्या दी है और ठीक यही संख्या तैत्तिरीय संहिता में भी मिलती है।

"सामवेद के पंचविंश ब्राह्मण में यज्ञ की दक्षिणाओं का विधान है, जिसमें सबसे छोटी दक्षिणा १२ कृष्णल भर सोना है और आगे की दक्षिणाएँ द्विगुणित क्रम से बढ़ती हुई २४, ४८, ९६, १९२, ३८४, ७६८, १५३६, ३०७२, ६१४४, १२२८८, २४५७६, ४९१५२, ९८३०४, १९६६०८ और ३९३२१६ भर तक की बतलाई हैं। इसमें श्रेढी गणित का बड़ा अच्छा उदाहरण है और इस प्रकार का लाखों का गणित लिखने और गणित के ज्ञान के बिना हो ही नहीं सकता।

"शतपथ ब्राह्मण के अग्निचयन प्रकरण में हिसाब लगाया है कि ऋग्वेद के अक्षरों से १२००० बृहती (३६ अक्षर का) छंद प्रजापति ने

१. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० १४४।

वनाए अर्थात् ऋग्वेद के कुल अक्षर (१२००० × ३६) = ४३२००० हुए। इसी तरह यजु के ८००० और साम के ४००० बृहती छंद बनाने से उन दोनों के भी ४३२००० अक्षर हुए। इन्हीं अक्षरों से पंक्ति छंद (जिसमें आठ-आठ अक्षरों के पाँच पद अर्थात् ४० अक्षर होते हैं) बनाने से ऋग्वेद के (४३२००० ÷ ४०) = १०८०० पंक्ति छंद हुए और उतने ही यजु और साम के मिल कर हुए। एक वर्ष के ३६० दिन और एक दिन के ३० मुहूर्त्त होने से वर्ष भर के मुहूर्त्त भी १०८०० होते हैं अर्थात् तीनों वेदों से उतने पंक्ति छंद दुबारा बनते हैं, जितने कि वर्ष के मुहूर्त्त होते हैं।

"उसी ब्राह्मण में समय-विभाग के विषय में लिखा है कि रात-दिन के ३० मुहूर्त्त, एक मुहूर्त्त के १५ क्षिप्र, एक क्षिप्र के १५ एतर्हि, एक एतर्हि के १५ इदानीं और एक इदानीं के १५ प्राण होते हैं, अर्थात् रात-दिन के (३० × १५ × १५ × १५ × १५) = १५,१८,७५० प्राण होते हैं। इस गणना के अनुसार एक प्राण एक सेकंड के १/७ के लगभग होता है।"[१]

ओझाजी ने ठीक ही कहा है कि इस प्रकार का अंकों का हिसाब लिखना जाने बिना नहीं हो सकता था। इस प्रकार लिपि, अंक और वर्णमाला हमारे यहाँ वैदिक काल से ही थीं और हमारा भाषा-विज्ञान और व्याकरण शास्त्र भी बहुत उन्नत था। संस्कृत की वर्णमाला और व्याकरण पद्धति अब भी संसार के लिए पूर्णता का नमूना है।

३. संस्कृत वाङ्मय का विस्तार—उसमें इतिहास की सामग्री

हम भारतवासियों—विशेषकर हिंदुओं के सम्बन्ध में एक धारणा हो गई है कि हमारे पूर्वजों ने हमारा इतिहास नहीं लिख छोड़ा है और

१. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० १२।

हमको अपने अतीत का पूरा ज्ञान नहीं था और न है। कुछ हद तक यह बात सही है। उन्होंने इतिहास का प्रकार दूसरा रक्खा है और उसका उद्देश्य भी आज के इतिहास लिखनेवालों से कुछ अलग ही है। आज की परिभाषा में जो कुछ दिन-प्रतिदिन होता है, उसकी तालिका रखना ही इतिहास कहलाता है। इसमें सब प्रकार की घटनाओं का उल्लेख हो सकता है, पर विशेषतः सामाजिक और राजनीतिक विषयों का ही समावेश होता है। इतिहासवेत्ता प्राचीनकाल की जानकारी से भविष्य के लिए कुछ पथ-प्रदर्शन खोज निकालने का प्रयत्न करते हैं और इसी को इतिहास के विज्ञान का नाम दिया जाता है। यह चीज यूरोप में भी बहुत पुरानी नहीं है। वहाँ पुरानी चीजों की रक्षा की गई है और उनको वहाँ के लोग अपना गौरव मानते हैं, उनसे अपने अतीत का ज्ञान प्राप्त और प्रचारित करते हैं। हमारे पूर्वजों ने, व्यक्ति-विशेष या घटना-विशेष से जो भला-बुरा हुआ और उससे मानव समाज को जो लाभ पहुँचा अथवा सीखने को मिला, उसी पर अधिक ध्यान दिया; उस व्यक्ति या घटना की तिथि और तफ़सीली बातों को गौण माना और उनको लिख रखना आवश्यक नहीं समझा। यही कारण है कि हमको बहुत चीजों को जोड़ कर किसी व्यक्ति या घटानाविशेष का समय खोज निकालना पड़ता है और उनके संबंध की जानकारी भी बहुत नहीं मिल सकती। इतने आविष्कार हमारे पूर्वजों ने किए, पर हमें उन आविष्कारकों के नाम तक नहीं मालूम; और अगर कहीं नाम मिलते हैं तो इसका ठीक पता नहीं लगता कि वह कौन था, कहाँ का रहनेवाला था, कब रहा और उसने और कौन-कौन से काम किए—उसकी जीवनी का पता जल्दी नहीं चलता। बहुत विषयों में तो एक ही आचार्य या ऋषि के नाम से किसी विषयविशेष की सभी चीजें लिखी-बताई गई हैं। उदाहरणार्थ पुराणों को ही लीजिए। सब एक समय के नहीं हैं और न एक आदमी ने ही सबको लिखा या बनाया होगा; पर सब में

सूत का ही जिक्र है। यह ठीक वैसा ही है, जैसे यूरोप के सभी देशों के इतिहास के ग्रंथों का लिखनेवाला कोई एक ही आदमी कहा गया होता अथवा सब एक ही समय के लिखे बताए गए होते। इस तरह हमारे पूर्वजों की कृतियों का संरक्षण बहुत कुछ हुआ है, न कि उनके अपने नाम और जीवन के वृत्तांतों का। शायद यह सोचा गया कि मानव समाज के लिए कृतियों का ही अधिक महत्त्व है—कर्त्ता की जीवनी मनोरंजक होने के साथ ही कुछ सिखा भी सकती है, पर उसका उतना महत्त्व नहीं, जितना उन कृतियों से लोगों को क्या लाभ और हानि हो सकती है इसके ज्ञान से होने की संभावना है। इसी दृष्टि से हमारे पूर्वजों ने प्रत्येक घटना का—चाहे वह व्यक्तिविशेष के जीवन में हो, चाहे जनता के जीवन में हो, चाहे वह राजनीति विषयक हो अथवा तत्त्वज्ञानविषयक—मूल्य आँका है और उससे जो निष्कर्ष निकाला जा सकता है, वह हमारी सीख के लिए उन्होंने रख छोड़ा है।

संस्कृत के अभ्यास ने आज के आधुनिक अर्थ के भारतीय इतिहास का भी निर्माण करने में बड़ी सहायता पहुँचाई है। पिछले १५० बरसों की खोज और अध्ययन ने एक प्रकार से भारतवर्ष के इतिहास के ढाँचे का प्रायः पूरा-पूरा पुनरुद्धार कर दिया है। यह इतिहास गौरवपूर्ण है। मानव जाति के विकास के तीन मुख्य स्थान प्राचीन काल में पाए गए हैं, जहाँ उसके चिह्न और कृतियाँ मिलती हैं और उनके अध्ययन से पुरातत्त्व का पता लगा कर उस समय के समाज-गठन, रहन-सहन, कला, विद्या इत्यादि की रूपरेखा तैयार की गई है। इन तीनों में एक भारतवर्ष है। यह मानना पड़ेगा कि इस आधुनिक इतिहास को तैयार करने का श्रेय प्रायः पाश्चात्त्य विद्वानों को ही है। उन्होंने ही हमारे पुरातत्त्व को ढूंढ़ निकालने का बीड़ा उठाया और बहुत कुछ कर दिखाया। आज तो बहुतेरे भारतीय विद्वान् भी ऐसे हैं, जो उनसे टक्कर लेते हैं और बहुत विषयों में जिनकी खोज अधिक व्यापक, अधिक सूझवाली और अधिक

ठीक समझी जाती है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है, क्योंकि वे स्वभावतः उन चीजों के समझने की अधिक शक्ति रखते हैं। उन चीजों का असर जब हमारे जीवन पर इतना पड़ा है कि हम उन्हें दिन-प्रतिदिन अपने जीवन में अनजाने बरतते हैं, तो उनके समझने में हम अधिक समर्थ हों तो आश्चर्य ही क्या है? यह भी स्पष्ट है कि बहुत बातों में विदेशी विद्वान् भूल भी कर गए हैं। वह भी स्वाभाविक ही था। इन्हीं कारणों से यह बात मान लेने की है कि हमारे देश का सच्चा और ठीक इतिहास हमारे अपने लोग ही लिख सकते हैं। किसी भी देश के—विशेषतः भारत के—सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की वह गहरी जानकारी जो उससे संबंध रखनेवाले लेखों और दूसरी सामग्रियों की ठीक-ठीक व्याख्या के लिए आवश्यक है, उस देश की संतान को ही हो सकती है, विदेशियों को नहीं। "अत्यन्त शुद्ध जानकारी और अत्यन्त समवेदनामयी भावना का यह मेल ही है जो इतिहास के सूखे तथ्यों के निरे गट्ठर के दर्जे से उठाकर उदाहरण द्वारा सिखानेवाला तत्त्वचिंतन बना सकता है।"

यह काम हुआ है और हो रहा है। इसमें संस्कृत विद्या का बहुत बड़ा और विशेष स्थान तथा उपयोगिता है। यह केवल उस समय के ज्ञान के लिए आवश्यक नहीं है, जिसको हम प्राचीन भारत कह सकते हैं। उसके बाद मध्यकालीन भारत की भाषाएँ और आज की प्रचलित भाषाएँ भी उसी संस्कृत की बच्चियाँ हैं और आज भी आवश्यकता पड़ने पर उसी की शरण लेती हैं। उसके ज्ञान और विशेषकर वैसे ज्ञान के लिए जो इस प्रकार की खोज में उपयोगी हो सके, संस्कृत का पठन-पाठन अत्यन्त आवश्यक प्रमाणित हुआ है और आए दिन उसकी सार्थकता प्रमाणित होती रही है।

इस अध्ययन का नतीजा थोड़े शब्दों अथवा पृष्ठों में कह देना या लिख देना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। कम से कम पाँच हजार बरसों में मानव जाति की एक बड़ी प्रतिभाशाली शाखा के विकास

का इतिहास थोड़े शब्दों में कैसे कहा जाय ? राजवंशों की गाथा, राजाओं के आपस के युद्ध, हार-जीत को छोड़ भी दिया जाय तो विद्या का विकास, समाज का गठन, जनसाधारण के रहन-सहन का वृत्तांत ही इतना बड़ा है कि वह कई जिल्दों में भी पूरा नहीं हो सकता। यहाँ पर केवल दिग्दर्शन मात्र ही कराया जा सकता है। ऐसा न समझें कि जो बातें दी जाती हैं, वे किसी एक समय या एक प्रांत के विषय में हैं। सारे देश के संबंध में जो जानकारी हुई है, उसी का निष्कर्ष यहाँ दिया जा सकता है।

भारतीय वाङ्मय का इतिहास अत्यन्त गौरवपूर्ण है। उसका दिग्दर्शन मात्र भी कठिन है, क्योंकि उसमें वैदिक काल से आज तक की विभिन्न भाषाओं में लिखित पुस्तकों की सूची भी तैयार की जाय तो एक बड़ी पुस्तक हो जायगी। विषयों के नाम की सूची भी एक बड़ी सूची होगी। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, वेदांग, दर्शन, व्याकरण, कोष, ज्योतिष, स्मृति और नीति-ग्रन्थ, वैद्यक, रसायनशास्त्र, ललित कला, काव्य, इतिहास, पुराण इत्यादि में से एक-एक के अध्ययन के लिए बरसों चाहिएँ। इसके अतिरिक्त पालि-वाङ्मय, जिसमें विशेषतः बौद्ध ग्रंथ पाए जाते हैं, और जैन-वाङ्मय का महत्त्व भी कम नहीं है। प्रचलित भाषाओं में प्रत्येक का अलग साहित्य है, जो कम नहीं है। भारतीय भारतवर्ष में ही नहीं रहे। उन्होंने विदेशों में भी जाकर अपना सिक्का जमाया और उनका प्रभाव तिब्बती, चीनी, फारसी, अरबी, तुखारी वाङ्मयों पर भी काफी पड़ा। सिंहल तो भारतवर्ष का ही अंश है; वहाँ पर असर पड़ना स्वाभाविक है। परले हिंद (वर्मा, स्याम, मलाया, हिंद-चीन और हिंदी द्वीपों) के जीवन में भारतवर्ष ने बहुत कुछ दिया है। अब खोज करनेवाले यह भी कहते हैं कि दक्खिनी अमेरिका तक वे और उनके अक्षर पहुँचे थे, जो आज तक वहाँ के जीवन में साफ दीख पड़ते हैं।

सुप्रसिद्ध संस्कृत-विद्वान् ए० बी० कीथ ने लिखा है कि "संस्कृत ने शक्तिशाली द्रविड़ भाषाओं पर गहरा प्रभाव डाला है। सीलोन भी उसके प्रभाव में आया और सिंहली भाषा में उसके प्रभाव के विशिष्ट चिह्न दिखाई देते हैं। सुण्डाद्वीपों, बोर्नियो और फिलीपाइन्स में भी संस्कृत पहुँची, और जावा में उसने 'कविभाषा' की शक्ल में एक उल्लेखनीय विकास को जन्म दिया। उच्चपद के साहसिक लोगों ने सुदूर भारत में राज्यों की स्थापना की, जहाँ के भारतीय नामों का उल्लेख भूगोलशास्त्री टालेमी ने द्वितीय शताब्दी ईस्वी में ही कर दिया है। चम्पा के संस्कृत अभिलेख संभवतः उसी शताब्दी में आरम्भ होते हैं, और कम्बोडिया के ६०० ई० से पहले। इससे भी अधिक महत्त्व की बात थी संस्कृत-ग्रन्थों का मध्य-एशिया में जाना और उनका चीन, तिब्बत तथा जापान पर प्रभाव।"[1]

संस्कृत में लिखे गए कथा-कहानियों के साहित्य ने सारे संसार के साहित्य को प्रभावित किया था। इस साहित्य के अध्ययन ने एक नए शास्त्रीय साहित्य को जन्म दिया है। यह साहित्य कथा-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन कहलाता है। सन् १८५४ ई० में वाजेने (Wagner), नामक पण्डित ने घोषित किया था कि ग्रीस का साहित्य इस विषय में भारत का ऋणी है। बेनफ़े इस प्रकार के अध्ययन के जन्मदाता माने जाते हैं उन्होंने वाजेने के इस मत को तो स्वीकार नहीं किया था परन्तु उन्होंने यह माना था कि अद्भुत कथाओं का मूल सामान्यतया भारतीय है। केलर, हर्टेल, कास्फिन, लूडर्स आदि विद्वानों ने इस विषय पर बहुत खोज-बीन की है और स्वीकार किया है कि संसार का कथा-साहित्य बहुत-कुछ भारतीय कथा-साहित्य से प्रभावित

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास, अनुवादक डॉ० मंगलदेव शास्त्री, पृ० १९–२०।

है। इस दिशा में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'पञ्चतन्त्र' है। इसके पुराने पाठ की पहलवी भाषा में अनुवाद हकीम बुर्ज़ोई ने किया था जो खुसरो अनौशेरवाँ (५३१–७९ ई०) के आश्रित थे। यह अनुवाद अब नहीं मिलता। किन्तु सन् ५७० ई० तक इसका अनुवाद वूद नामक एक लेखक ने सीरिया की भाषा में कर लिया था। सन् ७५० ई० में अब्दुला इब्न-अल-मोकफ़्फ़ा ने इसका उल्था अरबी भाषा में किया था। इसी अरबी रूपान्तर से यूरोपीय देशों के अनुवाद या रूपान्तर निकले हैं। जिस सीरियाई अनुवाद की ऊपर चर्चा की गई है उसकी एक अपूर्ण पाण्डुलिपि सुरक्षित रह गई है। पहलवी अनुवाद में पाँच तन्त्रों के साथ कुछ और कहानियाँ भी जोड़ी गई थीं। ये कहानियाँ भी भारतीय साहित्य से ली गई थीं। विद्वानों ने पता लगाया है कि इन अधिक कहानियों में से तीन महाभारत से ली गई थीं और पाँच बौद्ध जातक-कथाओं से या किसी अन्य बौद्ध स्रोत से। दो अध्याय हकीम बुर्ज़ोई ने उद्देश्य और प्रस्तावना-निर्देशन के लिए अपनी ओर से जोड़ दिया था। इस प्रकार पहलवी में पन्द्रह अध्याय थे जिनमें से केवल दस ही सीरियाई अनुवाद में लिए गए थे। अरबी अनुवाद में बाईस अध्याय थे। ये कथाएँ पश्चिम में बहुत लोकप्रिय सिद्ध हुईं। दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में अरबी रूपान्तर से एक और नया सीरियाई अनुवाद किया गया। ग्यारहवीं शताब्दी में सेथ-पुत्र सिमियन ने इसे ग्रीक में भाषान्तरित किया। इस ग्रीक अनुवाद से एक इतालियन, दो लैटिन, एक जर्मन और कई स्लाव रूपान्तर हुए। ग्यारहवीं शताब्दी में रबी जोएल ने हिब्रू में इसका रूपान्तर किया जो बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ क्योंकि इसके आधार पर ईसवी सन् की तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जॉन कैपुआ ने अपनी पुस्तक लिखी जिसके दो मुद्रित संस्करण १४८० ई० में ही प्रकाशित हो गए थे। ऐंण्टिनिड फ़ान फ़ोर ने हिब्रू की हस्त-लिखित पोथी के आधार पर एक जर्मन-रूपान्तर किया जो १४८३ ई० और उसके

बाद बार-बार प्रकाशित होता रहा है। कहा जाता है कि एण्टिनिड फ़ान फ़ोर की पुस्तक ने जर्मन-साहित्य को बहुत अधिक प्रभावित किया है। फ़िर तो इसके अनुवाद स्पेनिश, डच, फ्रांसीसी, इतालवी, अंग्रेजी आदि भाषाओं में होता रहा। कई भाषाओं में तो कई-कई लेखकों ने इस पर लेखनी उठाई। सन् १५७० ई० में ही अंग्रेजी भाषा में दूसरा अनुवाद प्रकाशित हो चुका था।

पंचतन्त्र का दूसरा महत्त्वपूर्ण अनुवाद सन् ११२१ ई० (११४२ ई० ?) अबुल म आली नसराला इब्न मुहम्मद इब्न अब्दल हमीद द्वारा अरबी से किया गया जिससे सन् १४७० और १५०५ के बीच फ़ारसी में हुसेन इब्न अली अल वाइज़ द्वारा रचित अनवारिसुहैली की उत्पत्ति हुई। इससे पूर्व भाषाओं में अनेक अनुवाद किए गए। फ़्रांस में इसके विषय में जानकारी १६४४ ई० में डेविड सहीद और गौलमिन के अनुवाद से प्राप्त हुई। शीघ्र ही जर्मन, स्वीडिश, और अंग्रेजी भाषाओं में भी इसके अनुवाद हो गए। १५१२ और १५२०ई० के बीच किसी समय फ़ारसी वाले अनुवाद का तुर्की अनुवाद अलीबिन साहिल ने किया। वल्लन्द और कारलोने ने इस तुर्की अनुवाद का फिर से फ़्रांसीसी भाषा में अनुवाद किया। इस नए अनुवाद से जर्मन, डच, हंगेरियन और मलय आदि भाषाओं में अनुवाद हुए।[1]

पंचतन्त्र के साथ ही जातक-कथाएँ और महाभारत और बृहत्कथा आदि ग्रन्थों की कथाएँ संसार में समादृत होती रही हैं। इन कथाओं की लोकप्रियता उनमें अन्तर्निहित मानवी रस की साक्षी है। इन ग्रन्थों की कथाएँ धर्मों, देशों और संस्कृतियों की सीमा लाँघने में समर्थ हुई हैं।

संस्कृत की एक और कथा— शुकसप्तति संसार के कथा-रसिकों को बहुत प्रिय सिद्ध हुई है। १४वीं शताब्दी से पहले ही इसका अनुवाद

---

१. देखिए—ए० बी० कीथ, 'हिस्ट्री आफ़ संस्कृत लिटरेचर' तथा विन्टरनित्स का 'सम प्राब्लेम्स आफ़ इंडियन लिटरेचर'।

फ़ारसी में हो चुका था। यह अनुवाद बहुत अच्छा नहीं रहा होगा क्योंकि उससे असंतुष्ट होकर ही फ़ारसी के प्रसिद्ध कवि नख्शवी ने (जो हाफिज और सादी के समकालीन थे) १३२९–३० ई० में 'तूती नामह' लिखा जो सौ वर्षों के अन्दर तुर्की में अनूदित हुआ और फिर अन्य यूरोपियन भाषा में गया। नख्शवी को 'शुकसप्तति' की कुछ कहानियाँ अश्लील लगी थीं। उन्होंने उन्हें छोड़ दिया था और 'बेतालपंचविंशतिका' (बेताल-पचीसी) से लेकर कुछ अन्य कथाएँ जोड़ दी थीं। फ़ारसी-रूपान्तर से कई एशियाई भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ और यूरोप की पश्चिमी सीमा के देशों तक यह कहानी पहुँच गई। अरबी की प्रसिद्ध कहानी सहस्र रजनी चरित्र में जैन उपाख्यान ग्रन्थ कनकमंजरी का प्रभाव स्थापित किया जा सका है और सिन्दबाद की कहानी का भारतीय मूल तो मसूदी नामक अरबी ऐतिहासिक विद्वान् ने (मृत्यु ९५६ ई०) स्वयं स्वीकार किया है।[1] विद्वानों ने दर्जनों कथाओं का भारतीय मूल अनुमान किया है।

श्री ए० बी० कीथ ने लिखा है कि "उपर्युक्त प्रामाणिक तथ्यों के आधार पर यह तुरन्त माना जा सकता है कि वे कहानियाँ भी, जिनका निश्चयात्मक रूप से भारतीय स्रोतों से निकले हुए होने का पता नहीं लगाया जा सकता, भारत से ही पश्चिमी देशों को पहुँची होंगी। संप्रेषण के विभिन्न प्रकारों की कल्पना करना भी कठिन नहीं है; साहित्य के अतिरिक्त कहानियाँ मौखिक रूप से भी बड़ी आसानी से भ्रमण करती हैं; और धर्म युद्धों के फलस्वरूप ईसाइयों और मुसलमानों में लम्बी अवधि तक संपर्क बना रहा। इसके अतिरिक्त, स्पेन में अरबों के शासन ने पूर्वी और पाश्चात्य सभ्यताओं के बीच मध्यस्थता का कार्य किया, और इसी सम्बन्ध में यहूदियों ने भी मध्यस्थों के रूप में महत्त्वपूर्ण भाग लिया। इस सम्बन्ध में बेंफ़े ने मंगोलों पर पड़े प्रभाव का अतिरंजित

१. ए० बी० कीथ, हिस्ट्री आफ़ संस्कृत लिटरेचर तथा विण्टरनित्स का सम प्राब्लेम्स आफ इण्डियन लिटरेचर

वर्णन किया है किन्तु कॉस्फ़िन ने निश्चय ही उसका अवमूल्यांकन किया है। इसमें संदेह का कोई कारण नहीं है कि जिप्सियों ने कहानियों के प्रसार में सहायता पहुँचाई, क्योंकि उनकी भारतीय उत्पत्ति पूर्णतया सिद्ध हो चुकी है। फिर विज़ेण्टाइन साहित्य भी कहानियों के साहित्यिक प्रसार में अवश्य कारण रहा होगा।" (अनुवाद—मंगलदेव शास्त्री)।

महाभारत, वृहत्कथा, पंचतन्त्र और जातक-कथाएँ नाना रूपों में बदल कर संसार के साहित्य में प्रविष्ट हुई हैं। तिब्बती, चीनी, मंगोलियाई, कोरियाई, जापानी आदि पूर्वी भाषाओं में बौद्ध साहित्य तो प्रचुर मात्रा में गया ही है, महाभारत और पंचतन्त्र की कथाएँ भी गई हैं। आधुनिक काल में भी महाभारत की कई कथाएँ यूरोपीय देशों में काफी लोकप्रिय हुई हैं। महाभारत में ऐसी बहुत-सी कथाएँ हैं जो अपने आप में परिपूर्ण हैं। पश्चिमी विद्वानों ने इन कथाओं को 'महाकाव्य के भीतर महाकाव्य' (एपिक विदिन एपिक) कह कर उनकी प्रशंसा की है। इनमें शकुन्तला, ययाति, नहुष, नल-दयमन्ती, कच-देवयानी, विदुला, सावित्री आदि के उपाख्यानों के अनुवाद कई आधुनिक सभ्य भाषाओं में हुए। कई कथाएँ तो तीन-तीन, चार-चार बार अनुवादित हुई हैं। सन् १८१६ ई० में एफ० बप्प ने नल की कहानी को लैटिन अनुवाद के साथ भी प्रकाशित करवाया था। श्लिगल जैसे मनीषी ने इस कथा को पढ़ कर लिखा था— मैं सिर्फ इतना ही कहूँगा कि मेरी समझ में करुणा तथा भाव-मनोरमता की दृष्टि से, और भावों की कोमलता और विमोहक शक्ति की दृष्टि से नल-दमयन्ती का आख्यान अद्वितीय है। इसकी रचना इस ढंग से की गई है कि वह सबको आकर्षित करती है, चाहे वह बूढ़ा हो या जवान, उच्च जातीय हो या निम्नस्तरीय, रसज्ञ आलोचक हो या सहज बुद्धि से चीजों को पसन्द करने वाला हो।" इसी प्रकार सावित्री-सत्यवान की कहानी के बारे में सुप्रसिद्ध विद्वान् विण्टरनित्स ने कहा था—"चाहे जिस किसी ने

सावित्री का काव्य रचा हो—चाहे वह कोई शूद्र रहा हो या ब्राह्मण—वह अवश्यमेव सब कालों का एक सर्वोच्च कवि था । कोई महान् कवि ही इस उत्कृष्ट महिला-चरित्र को इतने मनमोहक और आकर्षक ढंग से चित्रित कर सकता था और शुष्क उपदेश की मनोदशा में पड़े बिना भाग्य और मृत्यु पर प्रेम तथा पातिव्रत्य की विजय दिखला सकता था। प्रतिभाशाली कलाकार ही जादू की तरह ऐसे आश्चर्यजनक चित्र को प्रस्तुत कर सकता था।" (विशेष विस्तार के लिए विण्टरनित्स का 'इंडियन लिटरेचर' देखिए ।) ।

पालिभाषा में लिखा गया विशाल बौद्ध-साहित्य भारतवर्ष से लुप्त हो गया था परन्तु लंका, ब्रह्मदेश, जावा, थाईलैण्ड आदि देशों में सुरक्षित है। उन देशों के लोगों ने इनकी रक्षा की है जिसके लिए हम उनके कृतज्ञ हैं। संस्कृत में लिखा हुआ बौद्ध-साहित्य भी बहुत विशाल था। विद्वानों के परिश्रम से उसका कुछ-कुछ उद्धार हुआ है और हो रहा है। अधिकतर ये ग्रंथ चीन, जापान, मंगोलिया, कोरिया, तिब्बत आदि देशों में प्रचारित थे। कई ग्रंथों के अनुवाद यदि इन देशों की भाषाओं में सुरक्षित न होते तो हमें उनका पता भी नहीं चलता। सबसे अधिक अनुवाद चीनी और तिब्बती भाषाओं में हुए हैं। चीन में तो आज से दो हजार वर्ष से भी पहले बौद्ध-धर्म का प्रवेश हुआ था। सन् ५१८ ई० से १०१० ई० तक तो बौद्ध-धर्म वहाँ बारह बार गया। हर बार कुछ-न-कुछ अनुवाद हुए। यही कारण है कि चीनी भाषा में एक ही पुस्तक के कई-कई अनुवाद हैं। 'सुखावती-व्यूह' का चीनी अनुवाद १७० ई० से भी पहले हो गया था। इसी प्रकार 'अमितायुर्ध्यान-सूत्र' का भी काफी पहले अनुवाद हो गया था। 'सद्धर्मपुण्डरीक' का चीनी अनुवाद ३१६ ई० से पहले ही, संभवतः २२३ ई० में ही हो गया था। ये तीनों ग्रन्थ जापान के दो प्रसिद्ध बौद्ध-सम्प्रदाय 'जो-दो-शू' और 'शिन-शू' के आधार हैं। इसी प्रकार 'करुणा-पुण्डरीक' (६०० ई० से पूर्व)

'अवतंसक-सूत्र' या 'गण्डव्यूह' (४२० ई० से पूर्व) अनुवादित हुए। 'गण्डव्यूह' जापान के 'के-गोन' सम्प्रदाय का मुख्य ग्रन्थ है। 'लंकावतार सूत्र' (४४३ ई०), 'दशभूमीश्वर सूत्र' (४०० ई०), 'सुवर्णप्रभास' (६१८ ई०), 'राष्ट्रपाल परिपृच्छा' (६१८ ई० से पूर्व) आदि ग्रंथों के अनुवाद चीन देश की भाषा में हुए। 'वज्रच्छेदिका' का प्रचार मध्य-एशिया, चीन और जापान में हुआ था। यह और 'प्रज्ञापारमिता-हृदय' जापान के 'शिन-गोन' सम्प्रदाय के मुख्य ग्रन्थ कहे जाते हैं। 'प्रज्ञापारमिता–हृदय–स्त्रोत्र' तो ६०९ ई० से अब तक जापान में सुरक्षित है। 'अवदान शतक' का चीनी अनुवाद सन् ईसवी से २०० वर्ष बाद हो चुका था। चीनी परम्परा से पता चलता है कि छः प्रकार के अवतंसक सूत्र उपलब्ध थे। उनमें जो सबसे बड़ा था वह एक लाख गाथाओं का था और सबसे छोटा ३६,००० गाथाओं का। सन् ४१९ ई० में छोटे अवतंसक का अनुवाद चीनी भाषा में हुआ था। मूल में कोई अवतंसकसूत्र प्राप्त नहीं होता। तिब्बत में ७वीं शताब्दी में बौद्ध धर्म गया। तिब्बती भाषा में कंजुर और तंजुर नामक संग्रह हैं। इनमें कंजुर में मूल बुद्ध-वचन हैं और तंजुर में अन्यान्य ग्रन्थ। कंजुर के सात भाग हैं—विनय, प्रज्ञापारमिता, अवतंसक, रत्नकूट, निर्वाण, सूत्र, और तंत्र। इस विशाल संग्रह में अनेकानेक संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद उपलब्ध होते हैं। संस्कृत के विद्वानों के लिए यह अद्भुत आकर्षण का काम कर रहे हैं। अनेक विद्वान इन ग्रन्थों के सहारे मूल पुस्तकों का उद्धार करने में समर्थ हुए हैं।

यद्यपि ये सारे ग्रंथ भारतवर्ष में लिखे गए थे पर दुर्भाग्यवश हमारी उपेक्षा से वे लुप्त हो गए। चीन, तिब्बत, जापान, कोरिया, मंगोलिया आदि के विद्वानों ने उन्हें अनुवादों के द्वारा बचा रखा है। हम उनके अत्यन्त कृतज्ञ हैं कि उन्होंने इस ज्ञान-राशि को बचा लिया।

विभिन्न भाषाओं में अनुवादों की संख्या काफी अधिक है। यहाँ केवल दिग्दर्शन मात्र किया गया है।

इतना विस्तृत क्षेत्र संस्कृत वाङ्मय का है कि एक-एक विषय में हमारा सारा जीवन लग सकता है और फिर भी उसका पूरा ज्ञान न हो तो आश्चर्य नहीं।

: २ :

संस्कृत वाङ्मय में विज्ञान

अक्सर यह कहा जाता है कि भारतीय केवल तत्त्वज्ञान पर ही अधिक ध्यान देते थे और इसलिए उन्होंने आजकल के भौतिक-विज्ञान (Physical Sciencces) की तरह की कोई बड़ी चीज नहीं निकाली और न सिखाई। यह लांछन सर्वथा अमूलक है, क्योंकि इस विषय में भी भारतीय किसी भी दूसरी जाति से पीछे नहीं थे और यदि पिछले तीन-चार सौ बरसों का इतिहास अलग कर दिया जाय तो उनका ज्ञान उन विषयों में भी सबसे आगे नहीं तो किसी से पीछे भी नहीं था।

भौतिक विज्ञान के लिए गणित शास्त्र का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। वही सब के मूल में है और उसी की वृद्धि से भौतिक विज्ञान के सब सार्वभौम और सार्वकालिक सिद्धान्तों का आविष्कार हुआ है। उस गणित शास्त्र का श्रीगणेश भारतवर्ष में ही हुआ।

/गणित शास्त्र का मूल अंकविद्या है। ओझाजी लिखते हैं—"भारतवर्ष ने अन्य देशवासियों को जो अनेक बातें सिखाईं, उनमें सब से अधिक महत्त्व अंकविद्या का है। संसार भर में गणित, ज्योतिष, विज्ञान आदि की आज जो उन्नति पाई जाती है, उसका मूल कारण वर्तमान अंकक्रम है, जिसमें एक से नौ तक के अंक और शून्य इन दस चिह्नों से अंकविद्या का सारा काम चला जाता है। यह क्रम भारतवासियों ने ही निकाला और उसे सारे संसार ने अपनाया !"[१]/

---

१ मध्यकालीन भारतीय संस्कृति (प्रयाग, १९२८ ई०) पृ० १०८।

आप लोगों में से अधिकांश को कदाचित् यह जानने की इच्छा होगी कि इससे पहले संसार की विभिन्न जातियों का अंकक्रम कैसा था और वह किस प्रकार गणित, ज्योतिष, विज्ञान आदि की उन्नति में बाधक था। इस विषय का ओझाजी ने अपनी उपर्युक्त पुस्तक में विशद विवेचन किया है। मैं यहाँ उनका संक्षेप में दिग्दर्शन कराता हूँ।

मिस्र के प्राचीन अंकक्रम में केवल १, १० और १०० इन तीन संख्याओं के ही मूल चिह्न थे। १ से ९ तक की संख्याओं को लिखने के लिए १ के चिह्न (खड़ी लकीर) को ही १ से ९ बार तक लिखना पड़ता था। ११ से १९ तक की संख्या को प्रकट करने के लिए दस का चिह्न बना कर उसकी बाईं ओर १ से ९ तक का चिह्न अंकित किया जाता था। २०, ३० आदि के लिए १० के चिह्न को ही बार-बार लिखना पड़ता था। २००, ३०० आदि लिखने के लिए १०० का चिह्न बार-बार दुहराया जाता और १०००, १०,००० के लिए पृथक्-पृथक् चित्र रहते थे। लाख को सूचित करने के लिए एक मेढक, १० लाख को बताने के लिए हाथ फैलाए पुरुष का चित्र और करोड़ के लिए एक गोला रहता था।[1]

फिनिशियावालों ने २० के लिए एक नया चिह्न ईजाद किया था और ३० से ९० तक की गिनती लिखने के लिए वे १० और २० के चिह्नों को बार-बार दुहराया करते थे।

यूनान और रोम के अंकों में १,५,१०,५०,१०० और १००० के चिह्न थे, जिन्हें वे बार-बार दुहरा कर संख्याएँ लिखा करते थे। इस प्रणाली को रोमन अंकप्रणाली कहते हैं। घड़ियों के अंक तथा कभी-कभी पुस्तकों की भूमिका आदि की पृष्ठ-संख्या बताने में आज भी

---

१ सुधाकर द्विवेदी—गणित का इतिहास, भाग १ (बनारस, १९१० ई०) पृ० १६।

उसका प्रयोग होता है और आप में से अधिकांश लोग उससे परिचित भी हैं। आप समझ सकते हैं कि ये प्रणालियाँ बड़ी-बड़ी संख्याओं को प्रकट करने के लिए कितनी अधूरी हैं।

भारतवर्ष की अंकप्रणाली प्राचीन काल में कैसी थी, इसका पता प्राचीन अभिलेखों से चलता है। उसमें १ से ९ तक की संख्याओं के लिए पृथक्-पृथक् ९ चिह्न शुरू से थे, वैसे ही १० से ९० तक के लिए ९ और चिह्न। उसके आगे १०० और १००० के लिए पृथक् चिह्नों का भी पता हमें मिलता है, और इन्हीं चिह्नों से ९९९९९ तक की संख्याएँ लिखी जाती थीं। लाख, करोड़ आदि के पृथक् चिह्नों के स्वरूप का पता आज हमें नहीं है, क्योंकि अभिलेखों में वे नहीं पाए गए, पर उनके लिए भी पृथक् चिह्न अवश्य रहे होंगे, इसका अनुमान वाङ्मय से होता है। इस प्रकार १ से ९ तक की संख्याओं के लिखने का तरीका हमारे देश में अत्यन्त प्राचीन काल में, शायद वेदों के ज़माने में भी, आज की ही तरह था। किन्तु १०,२० आदि लिखने के लिए पहले १,२ आदि के आगे शून्य न लगा कर १०,२० आदि दहाइयों के निर्दिष्ट चिह्न ही लिखते थे। ११ से ९९ तक की संख्याओं के लिए दहाइयों के अंक लिख कर उनके आगे इकाई का अंक लिख दिया जाता था, जैसे १९=१० ९, २७=२० ७ इत्यादि। २००, ३०० के लिए सैंकड़े का चिह्न देकर उसके दाएँ-बाएँ ऊपर-नीचे या मध्य में कहीं भी एक तरफ उतनी ही सीधी या तिरछी लकीरें जोड़ दी जाती थीं। परन्तु ४०० से ९०० तक के लिए १०० का चिह्न देकर एक छोटी लकीर के साथ ४ से ९ तक के अंक जोड़ दिए जाते थे। इसी प्रकार २०००, ३००० के लिए हजार का चिह्न देकर उतनी आड़ी या तिरछी लकीरें और ४००० से ९००० तक के लिए चिह्न के साथ छोटी लकीरों से अंक जोड़ दिए जाते थे। १०००० के लिए १००० के चिह्न के साथ १० का चिह्न जुड़ा रहता था और ९० हजार के लिए ९० का। सैकड़े के चिह्नों के बाद दहाई और तब

इकाई के चिह्न रखे जाते थे। राशि में दहाई न हो तो सैकड़े के बाद इकाई का अंक ही दे दिया जाता था। ९९९९९ लिखने के लिए ९००००, ९०००, ९००, ९० और ९ लिखा जाता था।

ईसा की छठी सदी तक हमारे देश के अभिलेखों में यही अंकपद्धति प्रचलित थी। उपर्युक्त विवेचन से मालूम होता है कि प्राचीन काल में भी अन्य देशों के मुकाबले में भारतवासी अंकविद्या में बहुत आगे थे। परन्तु गणित और विज्ञान की आधुनिक उन्नति के लिए हमारी वह प्राचीन पद्धति भी उपयुक्त न थी। अतः नई अंक-पद्धति का प्रचलन किया गया। इसमें दाईं से बाईं ओर हटने पर प्रत्येक अंक का स्थानीय मूल्य बढ़ जाता है; जैसे १११११११ में छहों अंक १ के ही हैं; परन्तु दाहिनी ओर से बाईं ओर हटते हुए प्रत्येक १ का मान क्रम से दस-दस गुना बढ़ता जाता है। इसी से इस क्रम को दशगुणोत्तर या दहाई की अंकपद्धति कहते हैं। दहाई की तरफ बढ़ने की इस पद्धति के बल पर जैसे बड़ी से बड़ी संख्याओं को गिन और लिखकर प्रकट किया जा सकता है, उसी तरह इकाई की दाहिनी तरफ दशमांश को प्रकट करने की पद्धति से सूक्ष्म से सूक्ष्म अंशों को भी अंकित किया जा सकता है। परन्तु दशमांश को प्रकट करने वाली इस दशमलव पद्धति का आविष्कार भारतीय नहीं है। उसकी जगह हमारे ज्योतिष में साठवाँ अंश दाहिनी तरफ लिखने की पद्धति जारी थी। दशमलव की पद्धति यूरोप में १५वीं-१६वीं सदी में निकली और हमारे यहाँ उन्नीसवीं सदी में आई।

दशगुणोत्तर पद्धति का आविष्कार किसने और कब किया यह कहना तो आज हमारे लिए कठिन है; परन्तु हमारे यहाँ के अभिलेखों में इस पद्धति से संख्याएँ लिखना साधारण रूप में पहले-पहल ईसा की छठी शताब्दी से पाया जाता है। लेकिन हमारे देश में उसका चलन कम से कम ३०० बरस और पहले से था, जिसके निश्चित प्रमाण वाङ्मय और पुरातत्त्व से मिल चुके हैं। पातंजल योगसूत्र के प्रसिद्ध भाष्यकार

व्यास ने (लगभग ३०० ई०) एक उदाहरण देते हुए लिखा है कि वही १ का अंक सैंकड़े के स्थान पर सौ, दहाई के स्थान पर दस और इकाई के स्थान पर एक के लिए प्रयुक्त होता है। पेशावर जिले के यूसुफज़ई इलाके में बख्शाली गाँव की खुदाई से भोजपत्रों पर चौथी शताब्दी ई० की लिपि में लिखी एक पोथी पाई गई है। उसमें अंक-शैली का प्रयोग हुआ है। उससे पहले यह पद्धति दुनिया में और कहीं किसी को भी ज्ञात नहीं थी। अतः इसके आविष्कार का श्रेय भारतवासियों को ही है और यहीं से यह अरब के रास्ते यूरोप में गई, यह बात सर्वसम्मत है। इससे पहले एशिया और यूरोप की खाल्दी, हिब्रू, अरब आदि जातियाँ अक्षरों से अंकों का काम चलाती थीं।

'इस विषय पर अंग्रेजी विश्वकोष'— में लिखा है—'इसमें कोई संदेह नहीं कि हमारे वर्तमान अंकक्रम की उत्पत्ति भारतीय है[1] संभवतः खगोल सम्बन्धी उन सारिणियों के साथ, जिनको एक भारतीय राजदूत ई० सन् ७७३ में बगदाद लाया, इन अंकों का प्रवेश अरब में हुआ। फिर ई० सन् की ९वीं सदी के प्रारम्भिक काल में प्रसिद्ध अबूजफ़र मुहम्मद अलखारिज़्मी ने अरबी में उक्त क्रम का विवेचन किया और उसी समय से अरबों में उसका प्रचार बढ़ने लगा।

"यूरोप में शून्यसहित संपूर्ण अंकक्रम ई० सन् की बारहवीं शताब्दी में अरबों से लिया गया और इस क्रम से बना हुआ अंकगणित अलगोरिट्मस (अलगोरिथम) नाम से प्रसिद्ध हुआ। रेनाड का अनुमान था कि यह विदेशी शब्द (अलगोरिट्मस) 'अलखारिज़्मी' का अक्षरांतरमात्र है। इसकी पुष्टि खारिज़्मी की अप्राप्त पुस्तक के कैंब्रिज से मिले अनुवाद के द्वारा हो गई है। यह अनुवाद संभवतः एडलहर्ड का किया हुआ है।

---

१. "इंसाइक्लापीडिया ब्रिटानिका" (११वाँ संस्करण, जि० १९, पृ० ८६७)।

खारिज़्मी की अंकगणित के प्रकारों को बाद के पूरबी विद्वानों ने सरल किया और उन अधिक सरल किए हुए प्रकारों का पच्छिमी यूरोप में पीसा के लिओनार्दो ने और पूरबी यूरोप में माक्सिमस् प्लानुदेस ने प्रचार किया। अरबी के 'सिफ़र' शब्द के लिए लिओनार्दो ने 'जिफ़िरो' शब्द का प्रयोग किया है, जिससे 'ज़ीरो' की उत्पत्ति हुई है।"[1]

"इस तरह गणित शास्त्र का जन्म यहाँ हुआ। पर केवल जन्म ही नहीं हुआ, वह बहुत ऊँचे दरजे तक भी पहुँच गया, जिसके उदाहरण बहुत मिलते हैं। गणित के आधार पर ही ज्योतिष का निर्माण हुआ और उसकी उन्नति का सबसे सीधा प्रमाण यह है कि उसी की गिनती के अनुसार आज भी हमारे पंचांग बना करते हैं, जिनमें ग्रहों की चाल और प्रतिदिन की स्थिति का पूरा ब्योरा रहा करता है। ज्योतिषियों के बताए समय पर ग्रहण लगना देख कर विद्वान् भी उन पंचांगों की सचाई माने बिना नहीं रह सकते। ज्योतिष के अलावा शुद्ध गणित में हमारे पूर्वजों ने बहुत ज्ञान प्राप्त किया था और यद्यपि आज उस समय के अधिकतर ग्रन्थ लुप्त हो गए हैं, पर तो भी जो मिलते हैं उनसे यह उस ज्ञान के विस्तार और गहराई का पता चलता है। अंकगणित या पाटीगणित में उन्होंने योग, ऋण, गुणा, भाग, वर्ग, घन, वर्गमूल और घनमूल इन आठों पद्धतियों को जान लिया था और प्रायः वही पद्धतियाँ आज तक संसार में प्रचलित हैं। इसके अतिरिक्त भिन्न में अंश के नीचे हर रखने और भिन्नों के योग, ऋण, गुणा, भाग, वर्ग, घन, वर्गमूल, घनमूल, लघुतम समापवर्त्य और महत्तम समापवर्त्तक की विधियाँ भी वे जानते थे। वितत भिन्न या मिश्र भिन्न (Continued Fraction) का भी एक प्रकार संस्कृत करण ग्रंथों में दिया गया है। दृढ़ या निश्छेद्य भाज्यहार निकालने की क्रिया भी उन्हें मालूम थी। भिन्नों की ये सब विधियाँ

१. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ० ११३–११४ पर उद्धृत।

हमारे यहाँ कुट्टक में सम्मिलित होती हैं। इसी प्रकार श्रेढी गणित के भी अनेक प्रकार ज्ञात हो चुके थे—जैसे, योगोत्तर श्रेढी (एकादिसंकलित या चिति, १+२+३+......प), चिति घन (त्रिकोण शंकु या सूचि बनाने की क्रिया), वर्ग चितिघन ($१^२+२^२+३^२+\ldots प^२$) घन चितिघन ($१^३+२^३+३^३+\ldots प^३$) आदि, जिन्हें अब त्रिभुजाकार संख्याएँ (triangular number) कहते हैं। चितिघन से किसी स्तूप की ईंटों का हिसाब आसानी से किया जा सकता था। गुणोत्तर श्रेढी के सिद्धांत भी यहाँ १२वीं सदी तक निकाले जा चुके थे। विलोम गणित या व्यस्त विधि, त्रैराशिक, स्वांशानुबंध और स्वांशापवाह, इष्ट कर्म (regula falsa या falsa positio), द्वीष्ट कर्म (regula duorum falsarum), एकादिभेद (combinations), क्षेत्रव्यवहार, अंकपाश (permutations) आदि की विधियाँ भी ज्ञात हो चुकी थीं। एकादिभेद का प्रयोग झरोखे बनाने के लिए हवा के आने का हिसाब करने में, खंडमेरु (पिरामिड) बनाने में, अन्य शिल्पों में और वैद्यक के रसों के लिए औषधों की मात्राओं का हिसाब करने में होता था। इष्ट कर्म द्वारा राशियों का मान निकालना, बावड़ी का नालियों से पानी भरने का समय गिन लेना, साझापत्ती, मिश्रधन जानकर साधारण और चक्रवृद्धि ब्याज जोड़ना, मिश्रित वस्तुओं का भाव निकालना तथा वस्तु-विनिमय आदि सभी दैनिक व्यवहारों में त्रैराशिक का प्रयोग वे बहुत पुराने काल से जानते थे, अर्थात् शून्य गणित और ब्याज संबंधी सभी नियमों का पता उन्होंने लगा लिया था।

इस प्रकार अंकप्रणाली सहित आज की प्रायः समूची अंकगणित के लिए, जिसे अपने यहाँ सरलगणित, व्यक्तगणित या पाटीगणित कहते थे, संसार आज भारत का ऋणी है। एक यूरोपीय विद्वान् ने लिखा है—"यह एक मार्के की बात है कि भारतवर्ष का गणित शास्त्र हमारे आज के विद्वान् कहाँ तक काम में लाते हैं। आज की पाटीगणित और

वीजगणित, रूपरेखा में और तत्त्व में, वस्तुतः भारतीय हैं। इस विशुद्ध गणित-सिद्धान्त अर्थात् अंक लिखने की पद्धति पर विचार कीजिए। भारतीय गणित-पद्धतियों पर विचार कीजिए जो वहाँ तक पहुँच गई थीं, जहाँ तक हम आज पहुँचे हैं और वीजगणित पर विचार कीजिए और तब कहिए कि गंगा के किनारे के ब्राह्मणों के हम कितने आभारी हैं।"[१] आर्य्यभट, ब्रह्मगुप्त और भास्कर के जितने भी ग्रंथ उपलभ्य हैं, संसार को चकित करते रहेंगे।

२. वीजगणित

अंकगणित की तरह वीजगणित का ज्ञान भी संसार को बहुत कुछ भारतीयों की देन है, यह बात अब सर्वसम्मत है। भारत ने वीजगणित यूनानियों से सीखी यह ठीक नहीं है, क्योंकि दोनों की वीजगणित पद्धति में काफी भेद है। गणित के इतिहास-लेखक काजोरी का अनुमान तो यह है कि वीजगणित के प्रथम यूनानी विद्वान् दियोफांतुस् (३६० ई०) को वीजगणित का प्रथम आभास भारत से ही मिला था। उन्नीसवीं सदी के गणितज्ञ द मौर्गों ने लिखा है कि दियोफांतुस् का वीजगणित-ज्ञान भारतीय विज्ञान के सामने नाममात्र का है। उसी सदी के जर्मन गणितज्ञ हानकेल ने कहा है कि यदि युक्तिसिद्ध या अकरणीगत (rational) और करणीगत (irrational) संस्थाओं और राशियों के मान निर्धारण में व्यक्तगणित के प्रयोग का नाम वीजगणित हो तो उसके आविष्कार का सारा श्रेय हिंदुओं को ही है।[२]

---

१. काजोरी का लेख, विनयकुमार सरकार के "हिन्दू एचीवमेंट इन एग्जैक्ट साइंस" (लंडन, १९१८), पृ० ८ पर उद्धृत।

२. काजोरी का लेख विनय कुमार सरकार के "हिन्दू एचीवमेंट इन एग्जैक्ट साइंस, पृ० १२ पर उद्धृत।

भारत में दियोफांतुस् के एक शताब्दी बाद हुए आर्य्यभट के ग्रंथ में वीजगणित का जो विकसित और क्रमवद्ध रूप मिलता है, उसको देखते हुए उसे यदि हम वर्तमान वीजगणित का संस्थापक मानें तो अनुचित न होगा। विहार को इस बात का गौरव होना चाहिए कि वीज-गणित का यह प्रथम आचार्य आर्य्यभट (प्रथम) आज से लगभग १५०० वर्ष पूर्व पाटलिपुत्र में पैदा हुआ था और सिर्फ २३ वर्ष की आयु में गणित और ज्योतिष संबंधी अपने आविष्कारों से उसने समकालिक विज्ञान-जगत् में क्रान्ति मचा दी थी। आर्य्यभट के बाद इसमें और भी उन्नति हुई। १२वीं शताब्दी में भास्कराचार्य के समय तक गणित की इस शाखा में इतनी उन्नति हो चुकी थी कि उस समय की ईजादें यूरोप में १७वीं–१८वीं सदी में जाकर समझी जा सकीं।

भारतीय ज्योतिष ग्रन्थों में पाए जाने वाले वीजगणित-ज्ञान के विषय में प्रोफेसर मैकडानल्ड लिखते हैं—"ये ग्रंथ एक से अधिक अज्ञात संख्या के समीकरण (equations with more than one unknown quantity) और एक से ऊँचे स्थल के समीकरण (equation of a higher degree) की रीति बताते हैं। इन विषयों में भारतीय वीजगणित अलक्सांद्रिया के यूनानी गणितकार दियोफांतुस् की गणित से आगे बढ़ी हुई थी। भारतीय ग्रन्थकारों ने विश्लेषण क्रिया को बहुत दूर तक पहुँचाया था और उनका गणित शास्त्र में सबसे बड़ा आविष्कार यह था कि उन्होंने द्वितीय स्थल की असीमाबद्ध संख्याओं के समाधान (Solutions of indeterminate, problems of the second degree) की क्रिया निकाली थी। इस क्रिया के सम्बन्ध में एक बहुत बड़े विशेषज्ञ हानकेल ने लिखा है कि १८वीं शताब्दी में फ़्रांसीसी ज्योतिषी लाग्रांज (Lagrange) तक जितनी क्रियाएँ गणितज्ञों ने निकाली हैं, उनमें सबसे सूक्ष्म यही क्रिया है।"[1]

---

१. इण्डियाज पास्ट (आक्सफ़ोर्ड, १९२७) पृ० १९१–१९२।

१२वीं सदी तक भारतवासी वीजगणित में जिन बड़े-बड़े नियमों का आविष्कार, कर चुके थे, उनमें से कुछ ये हैं—

१. ऋण राशियों के समीकरण की कल्पना।
२. वर्ग, घन और अनेकघात समीकरणों को सरल करना।
३. अंकपाश, एकादिभेद और कुट्टक के नियम।
४. एक वर्ण और अनेकवर्ण समीकरण।
५. केंद्रफल का वर्णन करना, जिसमें व्यक्त और अव्यक्त गणित का विकास हो।
६. असीमाबद्ध समीकरण।
७. द्वितीय स्थान का असीमाबद्ध समीकरण।

पिथागोरस के नाम से प्रसिद्ध इस साध्य की, कि समकोण त्रिभुज में कर्ण का वर्ग दोनों भुजाओं के वर्गों के योग के समान होता है, वीजगणित की विधि से दो सिद्धियाँ भास्कराचार्य ने दी हैं, जिनमें से एक वही है जिसे यूरोप में वालिस (१६१६–१७०३ ई०) ने अपने कोण-विभाग विषयक ग्रन्थ में पहले-पहल दिया था। इसी प्रकार चलन-कलन (differential calculus) का सिद्धांत यूरोप में पहले-पहल न्यूटन ने १७वीं सदी में प्रतिपादित किया था। परंतु हमारे यहाँ उससे कम से कम ५०० वर्ष पहले भास्कराचार्य तात्कालिकी गति नाम से इस विधि का आविष्कार कर चुके थे। बाद के भारतीय विद्वानों ने इसके महत्त्व को नहीं समझा और उसे और विकसित करने की जगह उन्होंने उसका खंडन किया।[1] करणी की शैली और चिह्नों का आविष्कार भारतीय ही है।

इस प्रकार वीजगणित का आविष्कार और विकास तथा ज्यामिति और खगोल में उसका प्रयोग भारतीयों ने ही पहले-पहल चलाया था। अरब में इसका प्रचार भारतीयों से सीख कर मूसा और याकूब ने किया।

---

१. सुधाकर द्विवेदी—चलन-कलन (बनारस), पृ० ५।

वहाँ से वह यूरोप में फैला। चीन और जापान में भी बीजगणित भारत से फैला था इसके काफी प्रमाण हैं।

३. रेखागणित

रेखागणित का ज्ञान भारत में पिछले वैदिक काल से ही काफी उन्नत था।[1] वेदियाँ और कुण्ड बनाने में इसकी हमेशा जरूरत पड़ती थी। भारत की प्राचीनतम रेखागणित, बौधायन और आपस्तम्ब के शुल्व सूत्रों में पाई जाती है। उनमें तरह-तरह की सरल रेखात्मक आकृतियों के निर्माण, क्षेत्रफलों के जोड़ और रूपांतर तथा आकृतियों और आयतनों की क्षेत्रमिति के प्रकार दिए गए हैं। वृत्त को बराबर के वर्ग तथा वर्ग को वृत्त में बदल देने जैसी अनेक विधियाँ बताई गई हैं। उनमें कर्ण के वर्ग विषयक सिद्धान्त का, उसके अनेक प्रयोग होने से, विशेष महत्त्व है। बौधायन शुल्व (१-४८) में लिखा है कि "समकोण चतुर्भुज के कर्ण पर बना (वर्ग-) क्षेत्र उस (चतुर्भुज) की लंबाई और चौड़ाई (के आधार) पर बने दोनों (वर्ग-)क्षेत्रों को प्रकट करता है।" "वर्ग के कर्ण पर बना क्षेत्र वर्ग से दुगुना होता है।"

समकोण त्रिभुज के कर्ण का वर्ग दोनों भुजाओं के वर्गों के योग के बराबर होता है यह साध्य आज पिथागोरस का साध्य कहलाता है। यूनानी विद्वान् पिथागोरस का समय लगभग ५०० ई० पू० है। जिस अनुश्रुति के आधार पर यह बात कही जाती थी, वह पिथागोरस से पाँच शताब्दी पीछे की है और वह भी स्पष्ट रूप से यह नहीं बतलाती कि पिथा-गोरस ने इस साध्य को सिद्ध किया ही था। इसी से गणित के इतिहास-लेखक इस बात की सचाई पर सन्देह करते हैं। दूसरी तरफ बौधायन

---

१. वैदिक गणित के विषय में आगे जो लिखा गया है, वह "कल्चरल हेरिटेज आफ़ इंडिया" (कलकत्ता, १९३७) में श्री विभूतिभूषण दत्त के लेख के आधार पर है।

शुल्व सूत्र में इस साध्य का साधारण विवेचन मौजूद है। बौधायन का समय भी छठी शताब्दी ई० पू० हो सकता है। भारतीय गणित के इतिहास-लेखक श्री विभूतिभूषण दत्त का कहना है कि शतपथ ब्राह्मण में इस साध्य के प्रयोग के उदाहरण हैं।

शुल्व सूत्रों में वर्ग की एक भुजा ज्ञात होने पर उनका कर्ण = १ (भुजा) $+\frac{१}{२}+\frac{१}{४}-\frac{१}{३\times४\times३४}$ = १.४१४२१५६ दिया गया है। वर्ग का कर्ण वस्तुतः $\sqrt{२}$ = १.४१४२१३......होता है। शुल्वकारों का गणित इस प्रकार दशमलव के ५वें स्थान तक ठीक था :

रेखागणित में १२वीं सदी तक भारतवासी कहाँ तक पहुँचे थे, इसका अन्दाज़ नीचे दिए गए कुछ मुख्य सिद्धान्तों से, जो कि उस समय के भारत में ज्ञात थे, किया जा सकेगा :[१]

१. समकोण त्रिभुज में कर्ण का वर्ग दोनों भुजाओं के वर्गों के जोड़ के बराबर होता है।
२. दिए हुए दो वर्गों के योग अथवा अंतर के समान वर्ग बनाना।
३. आयत को वर्ग या वर्ग को आयत में बदल देना।
४. $\sqrt{}$ का वास्तविक मान और राशियों का मध्यमाहरण।
५. वृत्तों को वर्ग और वर्गों को वृत्त में परिणत करना।
६. दिए हुए एकाधिक तुल्य वर्गों के समान क्षेत्रफल का एक वर्ग बनाना।
७. दिए हुए वर्ग से कई गुने क्षेत्रफल का वर्ग बनाना।
८. विषमकोण चतुर्भुज के करणानयन की विधि।
९. त्रिभुज, विषमकोण चतुर्भुज और वृत्त का क्षेत्रफल निकालना।
१०. वृत्तखंड की ज्या और उस पर से खींचे गए कोदंड तक के

---

१. ओझाजी की मध्यकालीन भारतीय संस्कृति तथा श्री विनय कुमार सरकार की "हिंदू एचीवमेंट इन एन्शेंट साइंस" के आधार पर।

लंब के ज्ञात होने पर (१) वृत्त का व्यास निकालना और (२) वृत्तखंड का क्षेत्रफल निकालना।

ये दोनों विधियाँ ब्रह्मगुप्त (५९८–६६० ई०) ने दी हैं। इनमें पहली यूनानियों को मालूम न थी। अरब गणितज्ञ मूसा (८३० ई०) ने इन दोनों को ब्रह्मगुप्त के ग्रंथों से सीखा।

११. शंकु (Cone) और वर्त्तुल (वेलन, Cylinder) के घनफल मालूम करना। ब्रह्मगुप्त ने दिखाया है कि शंकु का घनफल वेलन के और सूची (पिरामिड) का घनफल पर्शुक (प्रिज्म) के घनफल का तिहाई होता है।

हमारे पूर्वजों का त्रिकोणमिति का ज्ञान भी काफी बढ़ा हुआ था।[1] उन्होंने ज्या (Sine) और उत्क्रम ज्या (Versed sine) की सारिणियाँ बना ली थीं, जिनमें वृत्तपाद (Quadrant) के चौबीसवें भाग तक का प्रयोग है। दोनों सारिणियों में ज्या या उत्क्रम ज्या का अभिन्न मान से परिधि की कलाओं में परिदर्शन होता है।

ज्याओं का प्रयोग पुराने यूनानी नहीं जानते थे। अन्य अनेक बातों की तरह इसका ज्ञान भी यूरोप में अरबों द्वारा ही गया। ज्या का वाचक यूरोपीय शब्द साइन (Sine) ज्या के संस्कृत पर्याय शिंजिनी के अरबी रूपान्तर का ही अपभ्रंश है। प्राचीन भारतवासियों की ज्योतिष की सारिणियों से सिद्ध होता है कि वे गोलीय (Spherical) त्रिकोणमिति के मुख्य नियमों से भी परिचित थे।

घन (Solid या Co-ordinate) ज्यामिति के सिद्धांत यूरोप में पहले-पहल देस्कार्ते (१५९६–१६५० ई०) ने निकाले। परन्तु

१. ओझा जी की मध्यकालीन भारतीय संस्कृति तथा श्री विनय कुमार सरकार की "हिन्दू एचीवमेंट इन एन्शेंट साइंस" के आधार पर।

हमारे यहाँ उससे ८ शताब्दी पहले प्रसिद्ध नैयायिक वाचस्पति मिश्र के ग्रंथ में उन सिद्धान्तों का पूर्वाभास मिलता है।

४. ज्योतिष

ज्योतिष का विचार हमारे यहाँ वैदिक काल से ही पर्याप्त था।[1] वैदिक ऋषियों का ध्यान स्वभावतः शुरू में गणना की अपेक्षा अंतरिक्ष की घटनाओं के निरीक्षण की ओर अधिक गया। उन्होंने वेदों की काव्यमयी शैली में उन घटनाओं के अनेक सुन्दर और सूक्ष्म वर्णन किए हैं। आधुनिक विज्ञान की परिभाषाओं में उनका ठीक-ठीक मूल्य आँकना कठिन है। विद्वानों ने इस दिशा में प्रयत्न किए हैं और उनमें मतभेद भी है, पर इसमें संदेह नहीं कि वैदिक वाङ्मय में ऐसी अनेक स्पष्ट और अस्पष्ट सूचनाएँ हैं, जिनसे ज्योतिष विषयक उनके ज्ञान का अनुमान किया जा सकता है—उदाहरणार्थ वेद में सूर्य को दिन, रात, संध्या, उषा और संवत्सर का करनेवाला और ऋतुओं का कारण माना गया है। ऐतरेय ब्राह्मण (३.४४) में लिखा है—"यह (सूर्य) असल में न कभी अस्त होता है, न उदय। उसे जो अस्त होता मानते हैं, वह केवल दिन के अंत को पहुँचकर अपने आपको पलट लेता है; इधर तो रात कर देता है और उधर दिन। फिर इसे प्रातः उदय होता जो मानते हैं, वह केवल रात के अंत को पहुँच कर फिर से अपने को पलट लेता है; इधर दिन कर देता है और उधर रात। असल में यह कभी अस्त नहीं होता।" सूर्य की वार्षिक चाल उत्तरायण और दक्षिणायन में विभक्त की जाती थी। वसंत और शरत्-संवत पर दिन-रात का बराबर होना उन्हें ज्ञात था। सूर्य का उत्तरायण शुरू में वसंत-संपात से ही माना जाता

१. वैदिक ज्योतिष के विषय में आगे जो लिखा गया है, वह 'कल्चरल हेरिटेज आफ़ इंडिया' जि० ३ के श्री विभूतिभूषण दत्त और श्री एस० पी० सेनगुप्त के लेखों के आधार पर है।

था; लेकिन ब्राह्मण ग्रन्थों से मालूम होता है कि आजकल की तरह सबसे बड़ी रात और सबसे बड़े दिन के बाद से उत्तरायण और दक्षिणायन का आरम्भ मानने की बात भी जानी जा चुकी थी। सूर्य के क्रान्तिवृत्त का मार्ग चंद्रमा द्वारा लगभग २७⅓ दिन में तय होने के कारण क्रांतिवृत्त को बराबर के २७ भागों में विभक्त कर नक्षत्र-मंडलों के आधार पर उन भागों के नामकरण किए जा चुके थे। नक्षत्रों की गिनती साधारणतया २७ थी, कभी-कभी २८वाँ अभिजित् भी गिना जाता था। इसी तरह द्वादश आदित्यों की कल्पना से यह अनुमान होता है कि क्रांतिवृत्त के बारह भाग करके प्रत्येक भाग में स्थित सूर्य का पृथक् नाम रक्खा गया था। परंतु राशिचक्र के प्रचलित बारह भागों का पता वैदिक वाङ्मय में नहीं मिलता। ये नाम हमारे यहाँ पीछे यूनानियों से लिए गए हैं।

वर्ष के बारह मास, तीन मुख्य ऋतुओं और ३६० दिनों का उल्लेख ऋग्वेद (१.१६४.४८) में हुआ है। वहीं पंचवार्षिक युग की कल्पना का भी निर्देश है। (१.१६४.११–१२)। ऋतुएँ सामान्यतः ५ या ६— ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त और शिशिर-वसंत या शिशिर और वसन्त मानी जाती थीं। वर्ष में बारह महीने गिने जाते और सौर और चांद्र वर्षों का पारस्परिक अंतर मिटाने के लिए तेरहवें मास का भी उल्लेख है। तेरहवें अधिक मास का सातवीं ऋतु के रूप में भी वर्णन आता है। वर्ष का दिनमान उत्तर वैदिक काल तक ३६५-६६ निश्चित हो चुका था।

ध्यान देने की बात है कि प्राचीन रोमवासी शुरू में दस महीने और ३०४ दिन का ही वर्ष मानते थे। बारह महीनों का संवत्सर वहाँ पहले-पहल राजा नुमा पांपिलियस् (७१५-६७२ ई० पू०) ने वर्ष के आदि में जनवरी और फरवरी मास जोड़ कर चलाया था, लेकिन दिन तब भी ३५५ ही माने जाते थे। ५वीं शताब्दी ई० पू० में वहाँ चांद्र की जगह सौर वर्ष माना जाने लगा, जो ३५५ दिन का ही होता था। इस सौर वर्ष और वास्तविक सौर वर्ष के अंतर को मिटाने के लिए वहाँ अनेक प्रयत्न

किए गए। यूनानियों से अधिक मास मानने की रीति ली गई। अंत में ४६ ई० पू० में जुलियुस सीज़र ने वर्ष का दिनमान ३६५ $\frac{1}{4}$ निश्चित किया। सातवें और आठवें महीनों के पुराने नाम क्विक्तिलियस ('पाँचवाँ') और सेक्स्तिलियस ('छठा') के नाम बदल कर जूलियुस और ऑगस्तुस के नामों पर क्रमशः जुलाई और अगस्त रक्खे गए। ५२७ ई० में ईसाइयों ने ईसा मसीह का जन्म रोम नगर की स्थापना से ७९५ वर्ष बाद कल्पित करके रोमन संवत् को ही ईस्वी सन् के रूप में अपना लिया। उसके बाद ईस्वी सन् के दिनमान का ठीक-ठीक संस्कार यूरोप में १६वीं सदी में जाकर हुआ।[1]

ऋग्वेद में (९.७१.९; ७६.४) चंद्रमा का सूर्य के प्रकाश को लेकर चमकने का भी उल्लेख है।

उत्तर वैदिक काल में ज्योतिष की गणना वेदांगों में की जाती थी। यज्ञों की तिथि, मुहूर्त्त आदि स्थिर करने में इस विद्या की बड़ी जरूरत पड़ती थी, इसलिए इस विषय का अध्ययन उस काल में बहुत व्यापक रूप से होता था। दुर्भाग्य से उस काल का लिखा कोई ज्योतिष ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं है; पर ब्राह्मण, आरण्यक, कल्प सूत्र और अर्थशास्त्र आदि ग्रंथों में बिखरे हुए वचनों और संदर्भों से हम उस काल के ज्ञान का कुछ अनुमान कर सकते हैं। उपलब्ध वेदांग-ज्योतिष के ग्रन्थ भाषा और शैली की दृष्टि से बाद के प्रतीत होते हैं, पर उनकी सामग्री निश्चित रूप से पुरानी है।[2]

भारतीय ज्योतिष के अन्य प्राचीनतम ग्रंथों में हमें वृद्ध गर्गसंहिता, जैनों का सूरिय पण्णत्ति (सूर्य प्रज्ञप्ति) और सूर्य सिद्धांत के नाम मिलते हैं। इनमें सूर्य प्रज्ञप्ति के अतिरिक्त कोई भी आज उपलब्ध नहीं है। गर्गसंहिता नामक पुराने ग्रन्थ के कुछ अंश मिलते हैं, जो ई० सन् के आरम्भ

---

१. प्राचीन लिपिमाला, पृ० १९४-९५।
२. शाम शास्त्री संपादित वेदांग ज्योतिष, मैसूर १९३६, भूमिका, पृ० २।

के करीब लिखे मालूम होते हैं। उनमें युगपुराण नामक एक अंश इतिहास की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है और उस युग की राजनीतिक और सामाजिक दशा पर उससे काफी प्रकाश पड़ा है। सूर्य सिद्धांत का प्राचीन ग्रंथ अभी तक नहीं मिला है। उस नाम का जो ग्रंथ मिलता है, वह बहुत पीछे की रचना है। प्राचीन सूर्य सिद्धांत का संक्षेप वराहमिहिर (५०५-५८७ ई०) ने अपनी पंचसिद्धांतिका में दिया है। सूर्य प्रज्ञप्ति के बाद ज्योतिष का सबसे प्राचीन उपलब्ध ग्रंथ पटने के ज्योतिषी आर्यभट (जन्म ४७६, रचना ४९९ ई०) का लिखा आर्यभटीय है, जो बड़े ही महत्त्व का है। वराहमिहिर के ग्रंथ से मालूम होता है कि आर्यभट से पहले पौलिश, रोमक, वाशिष्ठ, सौर और पैतामह नाम से यहाँ ज्योतिष के ५ संप्रदाय प्रचलित थे, जिनमें रोमक संप्रदाय यूनानी गणनाशैली का द्योतक है। आर्यभट के ग्रंथ से मालूम होता है कि अनेक संप्रदायों और आचार्यों के निरीक्षण से उसके समय तक ज्योतिष संबंधी बहुत-सी सामग्री जमा हो चुकी थी। उसने उस सब की उचित जाँच-परख की, यूनान आदि अन्य देशों के समसामयिक ज्ञान को भी समझा और निजी निरीक्षण और आविष्कारों के आधार पर अनेक सुधार करके अपने ग्रंथ में उसे स्थान दिया। अपने समय के ज्योतिष-ज्ञान को उसके आविष्कारों ने बहुत आगे बढ़ा दिया। उसने सूर्य और तारों के स्थिर होने तथा पृथ्वी की परिधि ४९६७ योजन—लगभग २५००० मील—निश्चित की और सूर्य तथा चंद्र ग्रहण के कारणों की वैज्ञानिक व्याख्या की। ये सब बातें उस ज़माने के ज्योतिषियों के लिए एकदम नई और क्रांतिकारी थीं। इसीलिए उसके बाद ब्रह्मगुप्त (५९८–६६० ई०) और लल्ल (लगभग ७४८ ई०)[1] ने उसका काफी विरोध किया। लल्ल ने लिखा—"यदि पृथ्वी घूमती हो तो पक्षी अपने घोंसले

---

१. कल्चरल हेरिटेज आफ इंडिया, जि० ३, पृ० ३६२।

को कैसे पहुँच पावें, और आसमान की तरफ़ छोड़े हुए तीर समुद्र की दिशा (पश्चिम) में गिरा करें।"[1]

ब्रह्मगुप्त के बाद भास्कराचार्य (१११४ ई०) का नाम उल्लेख योग्य है। उसके लिखे ज्योतिष और गणित के अनेक ग्रंथ प्रचलित हैं। उनमें सिद्धांत शिरोमणि की प्रतिष्ठा सबसे अधिक है। इसके लीलावती, बीजगणित, ग्रहगणिताध्याय और गोलाध्याय नाम के चार प्रकरणों में से पहले दो गणित और अंतिम दो ज्योतिष संबंधी सिद्धांतों का प्रतिपादन करते हैं। गोलाध्याय में उसने पृथ्वी की गोलाई और आकर्षण शक्ति का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि "गोले की परिधि का १००वाँ भाग क्योंकि सम होता है और पृथ्वी भी एक बहुत बड़ा गोला है तथा मनुष्य बहुत ही छोटा है, अतः उसकी पीठ पर स्थित उसे वह सम (चपटी) ही जान पड़ती है।

पृथ्वी क्योंकि आकर्षण-शक्तिवाली है, इसलिए आकाश में स्थित गुरु पदार्थ को वह अपनी तरफ खींच लेती है, इसी से वह गिरता हुआ-सा प्रतीत होता है। चारों तरफ से समान (रूप से स्थित) यह (पृथ्वी) आकाश में गिरे कहाँ ?"[2]

८वीं शताब्दी में गणित की तरह ज्योतिष भी अरबों ने भारतीयों से सीखा। भारतीय सिद्धांत ग्रंथों का अनुवाद अरबी में 'सिंद हिंद' नाम से हुआ था। खलीफा हारूँ रशीद और अलमामून के दरबार में बहुत से ज्योतिषी भारत से बुलाए गए और इस विषय के अनेक संस्कृत ग्रंथों का उल्था उनसे अरबी में कराया गया। इनमें आर्यभट के ग्रंथ के अरबी अनुवाद का नाम 'अर्जबहर' था।

---

१. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ० १०४।
२. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ० १०५।

आर्यभट, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त और भास्कराचार्य के इन ग्रंथों में क्रांतिवृत्त का विभाग, सौर और चांद्र मासों का निरूपण, ग्रहगति का निर्णय, अयनांश (Precession) का विचार, सौर राशिमंडल, आकाश में पृथ्वी की अपनी शक्ति से स्थिति और अक्ष पर दैनिक गति, चंद्रमा का भ्रमण और पृथ्वी से उसका अंतर, ग्रहकक्षाओं का मान और ग्रहगणित, ग्रहगति और ग्रहस्थिति में उत्क्रांतिवृत्त की कल्पना का प्रयोग, सूर्य, चंद्र और पृथ्वी के आपेक्षिक परिमाण आदि अनेक विषयों का ठीक-ठीक प्रतिपादन है। ये ग्रंथ आज भी पढ़े जाते हैं और बहुत कुछ उन्हीं की गणना के अनुसार आज के पंचांग बनाए जाते हैं। यह एक आश्चर्य की बात है कि उन दिनों दूरबीन के विना ही हमारे विद्वान् केवल अपनी आँखों से देखकर और गणना के बल पर ग्रह-नक्षत्रों आदि की गति को इतना ठीक कैसे समझ सके। दूरबीन का आविष्कार न हो सका था, पर ग्रहों आदि की गति ठीक-ठीक समझने के लिए और किस्म के यंत्र मौजूद थे। भारत की प्राचीन वेधशालाओं का कुछ अनुमान १८वीं शताब्दी में जयपुर शहर के संस्थापक राजा सवाई जयसिंह के बनवाए जयपुर के मान मंदिर या यंत्र-मंदिर (जंतर-मंतर) से किया जा सकता है। राजा जयसिंह ने अपने इन मंदिरों को बनवाने से पहले यह आवश्यक समझा कि यूरोप में ज्योतिष सम्बन्धी जो नई खोजें हुई हैं, उनको भी समझ लिया जाय। इसके लिए उसने जर्मन ज्योतिषियों को अपने यहाँ बुलाया था। उनकी तालिकाओं को पूरी तरह समझने के बाद ही जयसिंह ने अपने यंत्र-मंदिर बनवाए। इससे यह सिद्ध होता है कि बाहरी ज्ञान ग्रहण करने और अपनाने की हमारी योग्यता सर्वथा नष्ट नहीं हुई थी। सवाई जयसिंह के बनवाए यन्त्र-मंदिर जयपुर के अतिरिक्त दिल्ली, काशी और उज्जैन में भी मौजूद हैं। यह भी एक मानी हुई बात है कि भारतवर्ष के ज्योतिषी और यंत्र चीन तक पहुँचे थे, और चीन में हिन्दू ज्योतिषियों ने वहाँ के ज्योतिषियों की

परिषद् में कभी-कभी प्रधान का आसन भी पाया था। ज्योतिष के संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद चीनी भाषा में भी पाया जाता है।

५. भौतिकी

भौतिकी (Physics) एक आधुनिक विद्या है। इसका अभ्यास आज की तरह शृंखलाबद्ध रूप से भारतीय, यूनानी या अन्य किसी भी प्राचीन जाति ने नहीं किया था। प्राचीन काल में भौतिकी-विषयक जो विचार थे, वे उस समय के तत्त्वज्ञान और दर्शन में, बिखरे हुए रूप में, थे। दर्शन का आधार वास्तव में प्रकृति के निरीक्षण और पर्यालोचन से निश्चित किए हुए नियम ही होते हैं। प्रकृति-विषयक परखे हुए और शृंखलाबद्ध ज्ञान को ही हम विज्ञान कहते हैं। उस ज्ञान के आधार पर तत्त्वों के विषय में हम जो अनुमान और कल्पनाएँ करते हैं, वही दर्शन या तत्त्वज्ञान है। प्रत्येक युग का दर्शन उस युग के विज्ञान पर निर्भर होता है। प्राचीन भारतवासियों के दार्शनिक विचार यूनानी आदि अन्य समसामयिक और प्राचीन जातियों की अपेक्षा प्रकृति के अधिक सीधे, पैने और व्यापक निरीक्षण और सूक्ष्मतर पर्यालोचन पर निर्भर थे। इसी से ज्ञान के हर क्षेत्र और हर पहलू में उनकी स्थापनाएँ अधिक क्रियात्मक थीं। आर्यों के प्रकृति-निरीक्षण के नमूने वैदिक काल से ही मिलते हैं। वेद में सूर्य की किरणों द्वारा पानी के भाप बन कर उड़ने से बादल बनने और बरसने आदि के काव्यमय परंतु यथार्थ वर्णन आते हैं। सूर्य की सात किरणों का बराबर उल्लेख हुआ है, जिसमें किरणों के सात रंगों का अभिप्राय जान पड़ता है।

इन्हीं निरीक्षणों और सृष्टि की उत्पत्ति सम्बन्धी कल्पनाओं के आधार पर आरंभिक दर्शन शास्त्र की नींव पड़ी। हमारा सबसे पहला दर्शन सांख्य था। उसका नाम सांख्य शायद इसीलिए पड़ा कि उसमें तत्त्वों का संस्थान अर्थात् परिगणन और वर्गीकरण किया जाता था। इससे प्रकृति का निरीक्षण और पर्यालोचन अधिक नियमित रूप से होने

लगा। हमारे सभी दर्शनों में पदार्थ (matter) और शक्ति (energy) तथा अणु-परमाणु सम्बन्धी विचार विद्यमान हैं। परमाणुओं के स्वरूप, उनके संघटन और विघटन का विशद विवेचन वैशेषिक और जैन दर्शनों में मिलता है, जो बहुत सच्चा और विज्ञानसम्मत है। वैशेषिक परमाणु को नित्य और अक्षर (अविनाशी) मानता है। एलेक्ट्रोन के आधुनिक आविष्कार से पहले भौतिकी में यह बात प्रायः ज्यों की त्यों मानी जाती थी। त्रसरेणु की लंबाई वराहमिहिर ने बालाग्र का ६४ वाँ भाग माना है, जो एक इंच के १/३४९५२८ अंश के बराबर होता है। एक त्रसरेणु में ३० या ६० परमाणु माने जाते थे। इस प्रकार परमाणु के जो परिमाण हमारे यहाँ माने गए थे, डा० ब्रजेंद्रनाथ शील ने दिखलाया है कि वे उद्रजद (हाईड्रोजन) के परमाणु के आधुनिक माने हुए परिमाणों के अत्यंत निकट हैं।[1]

शब्द, प्रकाश और ताप के उत्पन्न होने का भीतरी कारण किसी न किसी प्रकार की गति को माना गया है। यह गति न केवल समूचे अवयवी में और उसके प्रत्येक अवयव में मानी जाती थी, बल्कि परमाणुओं में स्वयं ही एक प्रकार का परिस्पंदन माना जाता था, जो कि उनकी तन्मात्रा का तत्त्व था।

तम (प्रकृति का स्थूलरूप, मैटर) और रज (प्रकृति का चल रूप, एनर्जी) की अविनाशिता, विकारिता और परिणामिता अर्थात् उनमें निरंतर आंतरिक परिवर्तन होते रहने की बातें सभी दर्शनों में मानी गई हैं। जैन दार्शनिक उमास्वाति का, जिसका समय ५० ई० के लगभग माना गया है, कहना था कि विषम गुण (पॉज़िटिव और नेगेटिव) पुद्गलों (अणुओं) के संयोग से ही संघात बन सकते हैं। यह विचार

---

१. पाज़िटिव साइंसेज आफ दी एश्यंट हिंदूज, (दिल्ली), पृ० ८३।

धन और ऋण विद्युत कणों के संपर्क के आधुनिक सिद्धांत के बहुत नज़दीक पहुँचता है ।

ताप और प्रकाश एक ही तेजोद्रव्य के दो स्वरूप हैं और सभी पार्थिव ताप या अग्नियों का जनक सूर्य का ताप है, यह विचार हमारे दर्शनों में सुपरिचित है। वाचस्पति मिश्र ने ताप और प्रकाश की किरणों का भी निरूपण किया है। चाक्षुषी (optics) के क्षेत्र में अर्ध स्वच्छता और अपारदर्शकता, आपतन (incidence) और परावर्तन (reflection) के कोणों की तुल्यता, विरल से सघन और सघन से विरल माध्यम में से गुज़रते समय किरणों के वर्तन या तिर्यग्गमन (refraction) प्रकाश के रासायनिक प्रभाव, भाँति-भाँति के तालों और दर्पणों के स्वरूप तथा उनमें से गुज़रनेवाली किरणों की नाभि (focus) पर केन्द्रीभूत होने का विवेचन हमारे दर्शन ग्रंथों में है।

कंपन द्वारा शब्द की उत्पत्ति, शब्द-तरंगों की तिर्यग्गति (परिस्पंद) तथा तरंगों के रूप में शब्द के विस्तार के सिद्धान्त भी उनमें हैं। प्रतिध्वनि का विश्लेषण भी किया गया है। शब्दों का वर्गीकरण तार, मंद्र आदि श्रुति (pitch) के भेद, तीव्र, मंद आदि घनता के भेद और उनके असाधारण धर्मों (timbre) के आधार पर किया गया है। संगीत में स्वर (musical notes) का विश्लेषण और श्रुतियों (tones and overtones) की गणित की गई है। स्वर (note) की श्रुति (pitch) अर्थात् कंपनों की संख्या तन्त्री की ताँत की लंबाई के व्यस्त मान से होती है, पिथागोरस के नाम से प्रसिद्ध इस सिद्धांत का पता हमारे यहाँ ठीक-ठीक था। सप्तक में स्वर की अपेक्षा दुगुनी श्रुतियाँ होती हैं, इस बात का भी पता लगाया जा चुका था। इस तरह वर्तमान यूरोप-अमेरिका का संगीत जिस सप्तक पर निर्भर है, उसका पूरा विकास यहाँ किया जा चुका था।

चुम्बक शक्ति का आरंभिक ज्ञान भी था। राजा भोज ने अपने युक्ति कल्पतरु में समुद्रगामी नावों के तलों को लोहे की कीलों से जोड़ने का निषेध किया है; क्योंकि समुद्र में चुम्बकीय क्षेत्र में पहुँचने पर उनके खिंच जाने का खतरा रहता था। समुद्र पार करनेवाले भारतीय नाविक दिशा देखने के लिए मत्स्य-यंत्र (कुतुबनुमे) का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से जानते थे। वह मछली की शकल का बनाया जाता था, इसलिए मत्स्य-यंत्र कहलाता था।

गति का भी हमारे शास्त्रों में काफी विश्लेषण किया गया था। वैशेषिक प्रशस्तपाद भाष्य में कर्मग्रन्थ नामक अध्याय इस दृष्टि से वहुत महत्त्वपूर्ण है। वहाँ कर्म (गति) को संयोग और विभाग का निरपेक्ष कारण अर्थात् द्रव्य में स्थान परिवर्तन करने वाला कहा गया है। कर्म क्षणिक है। सामान्यतः वह कर्मांतर (दूसरे कर्म) को पैदा नहीं कर सकता। नोदन (pressure). अभिघात (impact) आदि से उत्पन्न कर्म संस्कार अथवा वेग (impressed motion या momentum) को उत्पन्न करता है। 'साधारण कर्म से उसमें भेद किया गया है दव्य में एक ही क्षण और एक ही दिशा में दो कर्म नहीं हो सकते। एक ही समय में विरुद्ध दिशाओं में प्रयुक्त दो कर्म एक दूसरे का अवरोध कर स्थिरता पैदा कर देते हैं।' कर्म की विशेषता यह है कि वह सदा एक ही दिशा में होता है। कर्म संस्कार के कारणों और रूपों के विषय में वैशेषिक में काफी विचार किया गया है। नैयायिकों ने उसी विचार को और आगे वढ़ाया है। उन विचारों में शृंखलाबद्ध यांत्रिकी (mechanics) या गति शास्त्र (dynamics या kinetics) के वीज हैं और अनेक अंशों में उनमें तथा न्यूटन और गैलेलियों को हजार वर्ष वाद सूझे हुए विचारों में बड़ी समानता है।

६. वैद्यक

वैद्यक का अध्ययन भी बहुत प्राचीन काल से चला आता है और

इस विद्या का नाम भी वेद ही दिया गया है। आयुर्वेद और अथर्ववेद प्रायः समकालिक हैं, और उस समय से हजारों वर्षों तक इसका अध्ययन जारी रहा। वैदिक वाङ्मय में हम शरीर विद्या (anatomy), गर्भ-विद्या और स्वास्थ्य-विज्ञान का मूल पाते हैं। अथर्ववेद के समय ही मनुष्य-शरीर का इतना अध्ययन हुआ था कि उसमें जितनी हड्डियाँ हैं, उनकी ठीक गिनती दी गई है। अनेक रोगों के नामों और लक्षणों का उल्लेख अथर्ववेद में है।

बौद्ध ग्रंथों से मालूम होता है कि तक्षशिला का गुरुकुल भगवान् बुद्ध के समय के पहले से इस विद्या का केंद्र था और वहाँ के आत्रेय वंश के आचार्य अपने आयुर्वेद ज्ञान के लिए चारों दिशाओं में सिद्ध थे। बुद्ध के समय जीवक नाम का राजगृह का एक युवक इन्हीं आत्रेय आचार्य के पास यह विद्या सीखने गया था। सात बरस तक पढ़ने के बाद उसका घर लौटने को जी करने लगा और उसने आचार्य से कहा कि इस विद्या का तो कहीं अन्त नहीं है, अब मुझे घर जाकर कमाने-खाने की आज्ञा दीजिए। आचार्य ने उसके हाथ में एक कुदाली देकर आदेश दिया कि तक्षशिला के चारों तरफ एक योजन के भीतर जिस औषध का गुण और प्रयोग तुम्हें न मालूम हो, उसे उखाड़ लाओ। जब उसे कोई जड़ी-बूटी ऐसी न मिली, तब वह उस विद्या में पारंगत समझा जा कर बिदा किया गया। जीवक द्वारा भगंदर, मस्तिष्क और अंत्रसम्बन्धी कठिन रोगों की चीर-फाड़ करके इलाज किए जाने की अनेक कथाएँ हैं। भारतीय औषधों से यूनानी बहुत प्राचीन काल से परिचित थे। यूनानी औषध विज्ञान के पिता हिपोक्रातेस् (४५० ई० पू०) ने मिरच, लौंग, अदरख, आदि अनेक भारतीय औषधों के हमारे शास्त्रों के अनुसार प्रयोग बतलाए हैं।[1] जब सिकन्दर हिन्दुतान पर चढ़ाई करने आया तो उसने अपने दरबार

---

१. हिंदू एचीवमेंट इन एक्जैक्ट साइंस, पृ० ५०।

में भारतीय चिकित्सकों को रक्खा था और ऐसे रोगों को भी आराम करते थे, जिनको उसके स्वदेशी चिकित्सक नहीं आराम कर सकते थे। अशोक के शिला-लेखों में भारतवर्ष और सिंहल के अलावा ईरान से यूनान और लीबिया तक सभी देशों में मनुष्यों और पशुओं के लिए उसके चिकित्सालय खुलवाने और वहाँ भारतीय वैद्य तथा औषध भेजने का उल्लेख है।

चरक, सुश्रुत और वाग्भट के ग्रन्थों के नाम सभी लोग जानते हैं और उनके ग्रन्थ सभी आयुर्वेद विद्यालयों में पढ़े जाते हैं। पर उन ग्रंथों से ही पता लगता है कि उनके पहले और भी ग्रंथ थे, जिनके आधार पर वे बनाए गए थे। आज भी आयुर्वेद की बुनियाद वे ही हैं और वह आयुर्वेद संसार को अपनी सफलता से चकित कर सकता है।

हिपोक्रातेस् के बाद थियोक्रास्तुस् (३५० ई० पू०) नामक यूनानी वैद्य ने गूलर और अन्य भारती। औषधों का प्रयोग चलाया। उसके बाद सातवीं शताब्दी ई० तक के यूनानी और रोमन वैद्य अनेक नए-नए भारतीय औषधों का हमारे शास्त्रों की बताई विधि के अनुसार प्रयोग करते रहे। जब अशोक के समय से भारतीय वैद्य और औषध उनके देश में पहुँच चुके थे, तब उन्होंने हमारा औषध-विज्ञान सीखा, इसमें आश्चर्य ही क्या है?

हम देखेंगे कि भारतीय सभ्यता मध्य एशिया में भी फैली और वहाँ भारतीय उपनिवेश स्थापित हुए। चीनी तुर्किस्तान की कूचा नामक बस्ती में एक स्तूप के खंडहरों में से लेफ्टिनेंट कर्नल बावर को सन् १८९० में भोजपत्रों पर लिखी कुछ पोथियाँ मिली थीं। जांच करने पर मालूम हुआ कि उनकी भाषा संस्कृत है और वे आज से प्रायः १६०० बरस पहले की लिखी हैं, और वे वैद्यक के ग्रंथ हैं, जो आजकल उपलब्ध नहीं थे। उनमें आत्रेय, जातूकर्ण, पराशर, भेड, हरित और सुश्रुत जैसे

अनेक पुराने ग्रंथकारों के नाम आए हैं, जिनमें सुश्रुत के सिवा और किसी के ग्रंथ उपलब्ध नहीं ।

जो संहिताएँ उपलब्ध हैं उनमें चरक के नाम से प्रसिद्ध संहिता पुरानी मानी जाती है। अनुश्रुतियाँ बताती हैं कि चरक महाराज कनिष्क के राजवैद्य थे। परन्तु जिस रूप में यह संहिता प्राप्त होती है वह दृढ़बल द्वारा संशोधित रूप है। चरक ने भी भेल नामक आचार्य के सहपाठी पुनर्वसु आत्रय के तंत्र का प्रतिसंस्कार किया था। इस प्रकार यह परम्परा बहुत पुरानी है। इससे यह भी अनुमान किया जा सकता है कि भेल (या भेड) की संहिता चरक से प्राचीनतर है। सुश्रुत की संहिता भी बहुत प्राचीन है। ऊपर बावर हस्तलेखों (बावर मैनुस्क्रृप्ट्स) की चर्चा की गई है। उसमें हारीत और आत्रेय के साथ सुश्रुत का भी उल्लेख है। महाभारत में भी सुश्रुत का उल्लेख है। चरक से समान ही सुश्रुत की भी प्रसिद्धि भारत के बाहर हो गई थी। नवीं-दसवीं शताब्दी में वे पूर्व में कम्बोडिया और पश्चिम में अरब में प्रसिद्ध हो चुके थे। भेल-संहिता भी एक हस्तलेख के रूप में—यद्यपि बहुत भ्रष्ट अवस्था में—प्राप्त हुई है। इसका सम्पादन भी हो चुका है। कुछ पुरानी संहिताओं में काश्यप, आत्रेय, आश्विन और हारीत की संहिताएँ भी प्राप्त हुई हैं।

अब इस बात के भी सबूत मिल रहे हैं कि आयुर्वेद-विद्या ईसवी सन् से बहुत पहले असीरिया, बेबिलोनियाँ आदि में परिचित थी। कुछ पश्चिमी विद्वानों की खोज से यह बात सिद्ध हो रही है। असीरिया में वैद्यक-विज्ञान की परम्परा सन् ईसवी से ३,००० वर्ष पूर्व तक की बताई जाती है। उस देश के राजा असुरबनिपाल (Ashurbanipal) का समय ई० पू० ६८१–६६८ है। उनके पुस्तकालय की सामग्री प्रकाश में आई है। इसमें मिट्टी के २२०० पट्टों पर खुदी हुई ज्ञान-राशि उपलब्ध हुई है। अधिकांश चिकित्सा विषयक पुस्तकें हैं। ये बहुत पुरानी पुस्तकों की प्रतिलिपियाँ बताई जाती हैं। R. Campbel–Thomson ने असीरियाई वनस्पति-शास्त्र का एक कोश सन् १९४९ में प्रकाशित

किया था। इसमें २५० औषधियों के नाम हैं जिनमें एक दर्जन नाम भारतीय हैं। कैम्पबेल थाम्पसन की संस्कृत भाषा की ठीक जानकारी होती तो और भी भारतीय नामों का पता चलता। श्री आर० जी० हर्षे ने शिवकोष की भूमिका में लगभग ८० औषधियों के नामों के आयुर्वेद सम्मत होने का अनुमान किया है। कई नाम तो संस्कृत नामों से प्रायः ज्यों-के-त्यों मिलते हैं। अथर्ववेद में मिलने वाला 'अलावु' असीरियन में 'अलापु' नाम से प्रसिद्ध है। श्री हर्षे ने इन औषधियों की तालिका दी है जिससे स्पष्ट है कि ईसामसीह से बहुत-बहुत पहले असीरिया, बेबिलोनियाँ आदि में भारतीय औषधियाँ परिचित थीं। कुछ ऐसे भी नाम हो सकते हैं जिन्हें भारतीय वैद्यों ने उन देशों से ग्रहण किया हो। (दे० आर०जी० हर्षे : शिवकोश इण्ट्रोडक्शन, पृ० XLVII–LIII)।

आज से बारह सौ बरस पहले अरब और भारत का घनिष्ठ संबंध स्थापित हुआ। तब भारतीय वैद्य अरब राजधानियों में पहुँचे और भारतीय ग्रंथों का अरबी में अनुवाद हुआ। अरब द्वारा वह ज्ञान पच्छिमी यूरोप के देशों में पहुँचा। नालंदा के चीनी विद्यार्थियो द्वारा हमारे वैद्यक का ज्ञान चीन भी गया और तिब्बत में भी यहाँ के वैद्यक ग्रंथों के अनुवाद मिले हैं।

इतनी पुरानी विद्या होते हुए भी इसके सिद्धान्त आज भी काम में आते हैं। चिकित्सा शास्त्र ऐसा शास्त्र है, जिसकी जाँच प्रतिदिन के जीवन में होती रहती है। अगर रोग आराम होता है तो इसको हम ठीक मानते हैं। आयुर्वेद का आज भी भारत में अन्य किसी भी चिकित्सा-विधि से कहीं अधिक प्रचार है। अंग्रेजी ऐलोपैथिक विधि को सरकारी राजकीय सहायता मिलती है और केवल वही हाल तक प्रामाणिक विधि मानी जाती थी। उसके पठन-पाठन और शिक्षा तथा प्रयोग के लिए करोड़ों रुपयों का खर्च हुआ है और होता है। उसके अद्भुत चमत्कार किसी एक देश के लोगों की बुद्धि या प्रयोग के फल नहीं हैं; आज का

सारा संसार अपनी विद्या और ज्ञान का आदान-प्रदान करता रहता है इतना होने पर भी आज तक आयुर्वेद केवल जीवित ही नहीं है, उसकी कद्र दिनोंदिन विद्वानों में बढ़ती जाती है। इसका एकमात्र कारण यह है कि उसकी उपयोगिता और सफलता लोगों को स्पष्ट दीखती है।

इस विद्या को हमारे पूर्वजों ने वैज्ञानिक रीति से सीखा और सिखाया था। मनुष्य-शरीर का उनको बहुत कुछ ज्ञान था। उसमें किस प्रकार कोई दोष आ जाने से रोग पैदा होते हैं, इसका उन्होंने पूरा अध्ययन किया था। फिर किस तरह उन कारणों को दूर करके रोग को आराम किया जा सकता है, यह भी उन्होंने बहुत कुछ समझ लिया था। खाद्य पदार्थों का तो इतना विश्लेषण किया गया है, जितना आजतक पश्चिमी विद्वानों ने भी नहीं किया है। वनस्पतियों के अतिरिक्त धातुओं को भी उन्होंने पहचाना था और उनसे बने रसों का प्रयोग आयुर्वेद में एक अद्भुत चीज है। पारे के गुणों को जितना उन्होंने समझा था, शायद और किसी ने नहीं देखा या सुना। यूरोप के लोगों ने धातुओं को खिलाना भारतवर्ष से ही सीखा था।

आज यूरोप में अनेकानेक प्रयोगशालाएँ हैं, जहाँ हजारों प्रयोग रात-दिन हुआ करते हैं। भारतवर्ष में भी उन वनस्पतियों का आधुनिक वैज्ञानिक रीति से अध्ययन किया जा रहा है, जिनका जिक्र आयुर्वेद के ग्रंथों में है और उनके गुण-दोष आज की कसौटी पर देखे जा रहे हैं। ऐलोपैथी और होम्योपैथी दोनों ने हमारी प्रयुक्त वनस्पतियों और धातुओं की जाँच और परख करके अपनी विधि के अनुसार उनका इस्तेमाल भी शुरू कर दिया है। अभी भी अनगिनत औषध हैं, जिनका अध्ययन इस प्रकार से नहीं हो सका है, पर हमारे वैद्य लोग उनका इस्तेमाल रोजाना किया करते हैं। हमारे रसायन शास्त्र का अध्ययन आधुनिक रीति से अभी बहुत कम हुआ है। धातुओं से जो रसायन तैयार किए

जाते हैं, उनका विश्लेषण तीन लोगों ने किया है, पर उनके गुणों के ठीक-ठीक कारण अभी तक मालूम नहीं हुए हैं।

वैद्यक शास्त्र के साथ वनस्पति शास्त्र और रसायन शास्त्र का बहुत गहरा संबंध है। मनुष्य शरीर के स्वस्थ और रुग्ण होने की अवस्था का अध्ययन सबसे पहले जरूरी है और था। तब उसका वनस्पतियों और धातुओं के प्रयोग से स्वस्थ रखना अथवा रुग्ण हो जाने पर फिर स्वस्थ बनाना दूसरा आवश्यक काम है और था। इस विचार से इन शास्त्रों का भी काफी अध्ययन हुआ था। ये शास्त्र भारत के सार्वदेशिक शास्त्र थे, न कि किसी प्रान्त के। उनमें हिमालय के बर्फ से ढके स्थानों से लेकर राजपूताने की मरुभूमि और दक्खिन के गर्म प्रदेशों में जो वनस्पतियाँ उपलब्ध हैं, सभी के गुण-दोष और प्रयोग-विधि का पूरा वर्णन है। इसी प्रकार पच्छिम के पहाड़ में जो नमक और खानों में जो धातु मिलती थी, उनके गुण-दोष और प्रयोग-विधि का भी बहुत दूर तक अध्ययन किया गया था। ऐसे यन्त्र भी थे, जिनके द्वारा उनसे नाना प्रकार की चीजें तैयार की जाती थीं। वही यंत्र और वही विधि आज के वैद्य लोग भी काम में लेते हैं।

मनुष्य को एक दूसरे प्रकार की आपत्ति का भी कभी-कभी सामना करना पड़ता है। वह उसके शरीर से पैदा नहीं होती, जैसे रोग पैदा हुआ करते हैं। अगर किसी को साँप काट ले अथवा वह कहीं से गिर कर अपने हाथ-पाँव तोड़ डाले, तो उसकी यह विपत्ति आगंतुक और बाहर की है। हमारे चिकित्सकों ने इसका भी अध्ययन किया था और इस प्रकार की आपत्तियों के लिए भी उपचार बतलाए हैं। उन्हीं में विष भी है जो मनुष्य कभी-कभी जाने या अनजाने खा लेता है। इससे बचाने के उपाय और उपचार भी बतलाए गए हैं।

प्राचीन यूनानी साँप के काटने का कोई इलाज न जानते थे। सिकंदर के सेनापति नियार्कस ने आश्चर्य से लिखा है कि सिकंदर की सेना के जो व्यक्ति इस दुर्घटना में फँसे, भारतीय वैद्यों ने उन सबको ठीक कर दिया।

भारतीय विष-विज्ञान बहुत उन्नत था। संखिया का खाने के औषध के रूप में प्रयोग यहाँ बहुत प्राचीन काल से है। यूरोप में लोग संखिया का बाह्य उपयोग तो जानते थे, पर खाने के लिए इसे बहुत आधुनिक काल से ही बरतने लगे हैं।

आज के वैज्ञानिकों को ऐसे साधन उपलब्ध हैं, जो उन दिनों उपलब्ध नहीं थे। यह एक आश्चर्य की बात है कि इन साधनों के बिना भी उन दिनों कैसे और किस प्रकार इतनी बारीकी के साथ मनुष्य शरीर और उस पर असर डालनेवाली वनस्पतियों और धातुओं का अध्ययन किया गया, विशेषकर जिस बारीकी के साथ खाद्य पदार्थों के गुण-दोष बताए गए हैं, उनका अनुसंधान कैसे हो सका था! आज नए औषधों के गुण-दोष जानवरों पर प्रयोग करके जाने जाते हैं और तब उनका इस्तेमाल किया जाता है। इतने औषधों के गुण-दोष कैसे मालूम हुए और कैसे उनको अलग-अलग अथवा मिला कर उनके लाभालाभ का विवेचन हुआ, यह एक अद्भुत बात है! आजकल बहुतेरे ग्रंथ और पत्र-पत्रिकाएँ संसार में छपा करती हैं और विद्वान् सब को बराबर देखते रहते हैं। सभी विद्वान् अपनी खोजों और अनुसंधानों के फल प्रकाशित करते रहते हैं और दूसरों के प्रयोगों के फलों को प्रकाशित पत्रिकाओं द्वारा जानते रहते हैं। उन दिनों यह साधन उपलब्ध नहीं था। क्या किसी एक मनुष्य ने सभी कुछ जान लिया और उसका पूरा वर्णन करके शिष्यों को सिखा दिया था? ऐसा तो हो नहीं सकता था, क्योंकि ऐसी बात भी मिलती है, जो सभी ग्रंथों में नहीं है। इससे प्रमाणित होता है कि इस शास्त्र का विकास हुआ है। यह एक अनुसंधान का विषय है कि इतनी वनस्पतियों का गुण-दोष-विवेचन इतनी सूक्ष्मता से कैसे किया जा सका, विषों के गुण-दोष कैसे मालूम हुए, इनका प्रयोग कैसे किया गया? जो मारक वस्तु समझी जाती थी, उसी का फिर रोगों के दूर करने में प्रयोग का आविष्कार कैसे हुआ?

७. शल्य-चिकित्सा

आयुर्वेद केवल औषध खिलाकर ही रोगों को आराम नहीं करता था, पर आजकल एक चीज़ जिसे आयुर्वेदीय वैद्य भूल गए हैं, वह भी प्रचलित थी। चीर-फाड़ भी चिकित्सा का एक आवश्यक अंग था। इसके लिए यंत्र थे, जिनके १२७ प्रकार गिनाए गए हैं और उनमें ऐसे-ऐसे तेज़ और सूक्ष्म यंत्र भी थे, जो बाल की खाल भी निकाल सकते थे और वैद्यों को इन यंत्रों के उपयोग में भी निष्णात बनना पड़ता था।

भारत के प्राचीन चिकित्सा शस्त्रों का वर्णन करते हुए महामहोपाध्याय ओझाजी ने अपने 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति' ग्रंथ में लिखा है—"शस्त्रों की संख्या भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मानी है। इन यंत्रों और शस्त्रों का विस्तृत वर्णन भी ग्रंथों में दिया है। अर्श, भगंदर, योनिरोग, मूत्रदोष, आर्त्तव दोष, शुक्रदोष आदि रोगों के लिए भिन्न-भिन्न यन्त्र प्रयुक्त होते थे। व्रण वस्ति, वस्तियंत्र, पुष्पनेत्र (लिंग में औषध प्रविष्ट करने के लिए) शलाका यंत्र, नखाकृति, गर्भशंकु, प्रजनन शंकु (जीवित शिशु को गर्भाशय से बाहर निकालने के लिए) सर्पमुख (सीने के लिए) आदि बहुत से यन्त्र हैं। व्रणों और उदरादि सम्बन्धी रोगों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की पट्टियाँ बाँधने का भी वर्णन किया गया है। गुदभ्रंश के लिए चर्मबंधन का भी उल्लेख है। मनुष्य या घोड़े के बाल सीने आदि के काम में आते थे। दूषित रुधिर निकालने के लिए जोंक का भी प्रयोग होता था। जोंक की पहले परीक्षा कर ली जाती थी कि वह विषैली है अथवा नहीं। मूर्छा में शरीर को तीक्ष्ण अस्त्र से टीके के समान लेखन कर दवाई को रुधिर में मिला दिया जाता था। गति व्रण (sincs) तथा अर्बुदों की चिकित्सा में भी सूचियों का प्रयोग होता था। त्रिकूर्चक शस्त्र का भी कुष्ठ आदि में प्रयोग होता था। आजकल लेखन करते समय टीका लगाने के लिए जिस तीन-चार सुइयों वाले औजार का प्रयोग होता है, वह यही त्रिकूर्चक है। वर्त्तमान काल का टूथएलीवेटर

पहले दंतशंकु के नाम से प्रचलित था। प्राचीन आर्य कृत्रिम दाँतों का बनाना और लगाना तथा कृत्रिम नाक बना कर सीना भी जानते थे। दाँत उखाड़ने के लिए एणीपद शस्त्र का वर्णन मिलता है। मोतियाबिन्द (catract) के निकालने के लिए भी शस्त्र था। कमलनाल का प्रयोग दूध पिलाने अथवा वमन कराने के लिए होता था, जो आजकल के स्टमक पंप का काम देता था।" (पृ० १२१–२२).

८. शरीर-रचना-विज्ञान

शल्य चिकित्सा के लिए शरीर-रचना का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। इस विद्या का हमारे यहाँ शवच्छेदन आदि करके विधिवत् अभ्यास होता था। हड्डियों, मांसपेशियों, नाड़ियों और सूक्ष्म शिराओं आदि का जो विवेचन हमारे शास्त्रों में है, वह आज भी लगभग पूरा ठीक माना जाता है। हड्डी टूटने या उतर जाने पर उसे जोड़ने या बैठाने की विधि आज भी हमारे यहाँ के अखाड़ों के उस्ताद ऐसी अच्छी तरह जानते हैं कि कभी-कभी उनके कारनामों से चकित रह जाना पड़ता है।

इसके अतिरिक्त हमारे पुरखों ने शरीर के विभिन्न अंगों के कार्य तथा पाचन, रक्त-संचालन आदि प्रक्रियाओं का भी वैज्ञानिक तरीकों पर अध्ययन किया था। रक्त-संचार की ठीक-ठीक प्रक्रिया को हार्वी ने सन् १६२८ ई० में पहचाना। उससे पहले यूरोप वालों का यह ख्याल था कि रुधिर का संचार केवल धमनियों में ही ऊपर-नीचे होता रहता है। हमारे यहाँ का विचार भी यद्यपि अधूरा था, तो भी वह हार्वी के आविष्कार के आधे के करीब तक पहुँच चुका था। हमारे ग्रंथकारों के अनुसार धमनियाँ अशुद्ध रक्त को हृदय से यकृत् की तरफ ले जाती हैं और शिराएँ उसे फिर यकृत् से हृदय की तरफ लाती हैं। रक्त को साफ करने में फेफड़ों की क्रिया की तरफ हमारे आचार्यों का ध्यान नहीं गया था।[1]

---

१. हिंदू एचीवमेंट इत्यादि, पृ० ९५८–५९।

चरक और सुश्रुत में नाड़ियों और ज्ञानतंतुओं का केन्द्र हृदय को माना गया था। किंतु हठयोगी और तांत्रिक आचार्यों ने यह बात ठीक-ठीक पहचान ली थी कि ज्ञानतंतुओं का केन्द्र मस्तिष्क है और मेरुदण्ड तथा मस्तिष्क का परस्पर संबंध है। बाद के आयुर्वेद ग्रंथों में भी इसका वर्णन ठीक-ठीक है। यद्यपि हमारे प्राचीनतम आयुर्वेद-ग्रंथों में नाड़ी-परीक्षा की विधि नहीं दी गई है, फिर भी बहुत पुराने काल से यह विधि हमारे यहाँ प्रचलित है। नाड़ी-परीक्षा का ज्ञान भारतीयों ने चाहे खुद प्राप्त किया हो या किसी दूसरे देश से सीखा हो, पर हमारे वैद्यों ने इस दिशा में बड़ी उन्नति की थी।

९. धातु-शास्त्र

आयुर्वेद के एक विषय का ही अच्छी तरह अध्ययन किया जाय तो अनेक शास्त्रों की जरूरत पड़ती है और सबका एक दूसरे के साथ संबंध मालूम पड़ने लगता है। रसायन शास्त्र के आचार्य पतंजलि और नागार्जुन माने गए हैं। पतंजलि का लिखा लोहशास्त्र एक महत्त्व का ग्रन्थ था, जो दुर्भाग्य से अब उपलब्ध नहीं है, पर उसके उद्धरण दूसरे ग्रंथों में जहाँ-तहाँ विद्यमान हैं। नागार्जुन के ग्रंथ चीन में पहुँचे थे और उनके कुछ अंशों का अनुवाद प्राचीन चीनी ग्रंथों में है। पर धातुओं का अध्ययन केवल औषधों के लिए ही नहीं हुआ था। उनसे और काम भी लिए जाते थे। सोने-चाँदी की बात ही छोड़ दीजिए, ये तो बहुत पुराने समय से ही काम में लाए जा रहे हैं, ताँबे और लोहे का इस्तेमाल भी बहुत प्राचीन है। लोहे को शुद्ध बनाने की रीति लोग जानते थे। सीसे, राँगे और जस्ते (यशद्) की भी ईजाद पहले-पहल भारत में ही हुई। राँगे के लिए यूनान के महाकवि होमर (लग० ७०० ई० पू०) ने संस्कृत कास्तीर (कतीरा) शब्द का प्रयोग किया है। जस्ते का वर्णन पहले-पहल मदनपाल निघंटु (१३७० ई०) में मिलता है। यूरोप में इस धातु का पता १५४० ई० में लगा था।

ये सब धातुएँ खानों से शुद्ध रूप में तो निकलती नहीं हैं। शुद्ध करने पर ही इनका उपयोग हो सकता है। पत्थर की चट्टानों में लोहे और ताँबे आदि की कच्ची धातुएँ होती हैं। उन्हें उनसे निकालकर और शोधकर उपयोगी बनाना हमारे पूर्वज जानते थे। लोहे में कच्चे और पक्के लोहे का भेद मालूम था और ईस्पात बनाना भी वे लोग जानते थे। कुतुबमीनार के नज़दीक महरौली के लोहे के स्तंभ का लोहा ऐसा माना जाता है कि उस तरह का शुद्ध लोहा हाल तक कारखानों में नहीं बन पाया था। यह कैसे बना और कौन-सा प्रयोग इसके बनाने में किया गया था कि आज १५०० बरसों से धूप, गर्मी और बरसात के आघातों को सहता हुआ वह ज्यों का त्यों खड़ा हैं ? लोहे के ऐसे हथियार भी बनते थे, जिनका मुकाबला करना कठिन था। ईरानियों ने इसे हिंदुओं से सीखा था और ईरानियों से अरबों ने सीखा। जो तलवार 'दमिश्क की तलवार' के नाम से मशहूर थी, उसका जन्म हिन्दुस्तान में ही हुआ था। पिछली शताब्दी में फरगुसन ने लिखा था कि हिन्दुस्तान में लोहे के इतने बड़े खंड गढ़े जा सकते थे, जितने बड़े उनके समय के करीव तक यूरोप में नहीं बन सकते थे। महरौली की लाट केवल लोहे की शुद्धता का नहीं, वल्कि इतनी बड़ी लाट तैयार हो सकती है इसका भी एक अद्भुत नमूना है।

धातुओं के अतिरिक्त रत्नों की पहचान के लिए हमारे यहाँ के जौहरी १८वीं सदी तक दुनिया भर में विख्यात थे। हमारे यहाँ नवरत्नों की गिनती बहुत पुरानी है। भारत के कारीगर उन्हें काट-तराशकर सुन्दर से सुन्दर आकृति देने और उनमें बारीक से बारीक सूराख करने में अत्यन्त निपुण थे। धातुओं की तरह पीस-फूंककर रत्नों का भी औषध रूप में प्रयोग यहाँ बहुत प्राचीन है। इस विषय पर १४वीं सदी का रस-रत्न-समुच्चय नामक ग्रंथ बड़े महत्त्व का है।

गंधक का बहुत विवेचन आयुर्वेद में किया गया है और इसका अध्ययन भी हमारे रासायनिकों ने पूरा-पूरा किया था। पारे और गंधक के

अनेक समासों का प्रयोग आयुर्वेदीय दवाइयों में है। मकरध्वज पूर्णतः पारे का गंधित है, पर आजकल की साधारण रीति से बने हुए पारे के गंधित में वे गुण नहीं आते, जो मकरध्वज में पाए जाते हैं। आयुर्वेद की प्रक्रिया से मकरध्वज बनाने में वे सब गुण कैसे आ जाते हैं, इसकी व्याख्या आधुनिक विज्ञान भी अभी तक नहीं कर पाया है। अब ऐसा भी अनुमान किया जाने लगा है कि गंधक, शोरे और कोयले के संयोग से बने विस्फोटक पदार्थ 'बारूद' का आविष्कार भी भारतीय था। चीन और अरब ने इसका ज्ञान संभवतः भारत से ही सीखा था। भस्मीकरण (calcination), अधःपातन (distillation), ऊर्ध्व पातन (sublimation), स्वेदन (steaming), स्तंभन (fixation) आदि धातु-शोधन की प्रायः सभी आधुनिक प्रक्रियाएँ हमारे यहाँ ज्ञात थीं,[1] और छठी सदी यानी गुप्त-काल के अन्त तक सिर्फ पारे के ही १९ रासायनिक प्रयोग निकाले जा चुके थे। रोम के प्रसिद्ध लेखक प्लिनी ने ईसा पूर्व की पहली शताब्दी में रासायनिक द्रव्य-निर्माण और व्यवसाय में भारत की स्थिति संसार में सर्वोच्च मानी थी। १८वीं सदी ई० के अंत तक भारत की प्रायः वही स्थिति बराबर बनी रही।

१०. बनस्पति-शास्त्र, कृषि और बागवानी

वनस्पति शास्त्र का भी यहाँ विधिवत् अध्ययन किया गया था और बागवानी का ई० पू० की ७वीं सदी से भी पहले से आरंभ हो गया था। पौधे किस तरह उगते हैं, कहाँ और कैसे उनको खूराक मिलती है, किस तरह वे मरते हैं, इन सब विषयों का प्रायः उसी प्रकार से अध्ययन किया गया था, जिस तरह से मनुष्य-शरीर का। वृक्षायुर्वेद अथवा भेषज विद्या नाम से यह विद्या जानी जाती थी और अर्थशास्त्र, अग्निपुराण और

---

१. ब्रजेंद्रनाथ शील—पाजिटिव साइंसेज आफ दी एंश्यट हिंदूज, पृ० ६७।

वृहत् संहिता में गुल्म-वृक्षायुर्वेदज्ञ उसी को कहा गया है जो वीज के चुनने, मिट्टी चुनने, वीज वोने, वीज उगाने, कलम लगाने, रोपने, खाद, पौधों की चिकित्सा, पौधों की पहचान, पौधों में उन्नति कराना, फसलों का देवढ़ लगाना इत्यादि विषयों का ज्ञान रखनेवाला हो। अब इस वृक्षायुर्वेद और भेषज विद्या के एक-दो ग्रंथ ही मिलते हैं। यह विषय अनेक ग्रंथों में प्रसंगवश भी आया है और उनसे वहुत दूर तक पता लग सकता है कि यह कहाँ तक पहुँचा था। यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि बहुत बातें, जो आज आधुनिक विज्ञान के ग्रंथों में मिलती हैं वे, इन ग्रंथों में भी मिलती हैं।

पौधों को हमारे आचार्य जीवधारियों की ही एक किस्म समझते थे। उनमें भी वचपन, यौवन और वुढ़ापा आता है, सोना, जागना, जीविकोपार्जन, भोजन ग्रहण कर वढ़ना, चोट या घाव होने पर उसे भरने का प्रयत्न, रोगी होनेपर औषधोपचार से स्वास्थ्यलाभ आदि क्रियाएँ अन्य जीवधारियों की तरह ही होती हैं. इसका निरीक्षण किया गया था। यहाँ तक कि सूर्य और चंद्र-रश्मियों का उनके रस-परिपाक आदि पर कब कैसा प्रभाव होता है इसकी भी विवेचना हमारे शास्त्रों में मिलती है। वे जानते थे कि पौधे सूर्य से ही शक्ति लेते हैं और खास कर अस्त होते हुए सूर्य की लाल-पीली और नारंगी रश्मियाँ उनके लिए अधिक लाभदायक हैं। बाँझ वृक्षों का बाँझपन दूर करने के उपाय भी वताए गए हैं।

आज जितने प्रकार के घान अथवा दूसरे अन्न देखने में आते हैं, वे बहुत कुछ मनुष्य के परिश्रम और वुद्धि से उस अवस्था में पहुँचाए गए हैं जिनमें उनको हम आज पाते हैं। यह देख कर हम लोग चकित होते कि अनेक नए प्रकार के गेहूँ, घान, ऊख के वीज, आधुनिक प्रयोग-शालाओं और प्रयोग क्षेत्रों में पैदा किए जा रहे हैं, पर यह इससे भी आश्चर्य की बात है कि यह कोई आज की नई चीज नहीं है। हमारे देश के लोग इस विद्या और क्रिया को बहुत कुछ जानते थे। कौन कह सकता है

कि ऊख का जन्म अतीत काल में मनुष्य ने उन्हीं पौधों से नहीं दिलवाया था, जो आज़ भी बाँस और नरकट के रूप में देखे जाते हैं। बीजू और कलमी वृक्ष वहुत दिनों से प्रचलित चले आए हैं और यह भेद केवल फलों के लिए ही नहीं, फूलों के लिए और दूसरे पौधों के लिए भी बहुत दिनों से प्रचलित रहा है। कपास की खेती हमारी विशेषता रही है। ई० सन् के आरम्भ के कई सौ वर्ष पहले एक यूनानी इतिहासकार ने भारतवर्ष के विषय में आश्चर्यपूर्वक लिखा था कि इस देश में ऊन पेड़ों पर फलता है। आज भी कपास सफेद, लाल और गुलाबी रंग का होता है। आप यह न समझ लें कि ये रंग बिलकुल नैसर्गिक हैं। जिस तरह आज गुलाब के फूल के रंग को बदला जा सकता है, उसी तरह हमारे पूर्वजों ने कपास के रंग को बदलने की क्रिया की थी। फूलों में सुगन्ध ला देना, बढ़ा देना, कम कर देना भी वे जानते थे।

११. पशुचर्या

पशुओं का भी ज्ञान प्राप्त किया गया था। उनसे काम लेना बहुत पहले ही भारतीयों ने आरम्भ किया था। शालिहोत्र आज भी प्रचलित है। हाथी-घोड़े आदि उपयोगी पशुओं की नस्लों, उनके स्वभावों और रोगों आदि का विशेष अध्ययन किया जाता था। इस विषय के अनेक संस्कृत ग्रंथ आज भी विद्यमान हैं, जिनका विधिवत् अध्ययन होना अभीष्ट है। अन्य विषयों की तरह पशु-चिकित्सा संबंधी अनेक संस्कृत ग्रंथों का भी अनुवाद अरबी और फ़ारसी में किया गया था। उपयोगी पशुओं के अतिरिक्त जंगली पशु-पक्षियों और कृमियों का अध्ययन भी विधिवत् हुआ था और उनकी विविध किस्मों तथा उनके स्वभाव, रहन-सहन, स्त्री-पुरुष-जीवन, संतति आदि की बारीक छानबीन की जाती थी।

इस विषय पर जैन पंडित कृत हंसदेव मृगपक्षिशास्त्र एक बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। कृमियों और सरीसृपों के विषय में लाट्यायन नामक एक विद्वान् के लिखे ग्रन्थ का नाम मिलता है, जिसमें साँपों आदि के अंग-प्रत्यंग पर विचार किया गया था। दुर्भाग्य से वह ग्रंथ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ।[1]

---

१. विशेष विवरण के लिए देखिए 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति' पृ० १२२ प्रभृति ।

: ३ :

संस्कृत वाङ्मय और कला

भारतवासी केवल विद्याभ्यासी ही नहीं थे। उन्होंने बड़ी चतुरता के साथ कला की उन्नति की थी और व्यापार भी बढ़ाया था। उनका राजतंत्र बहुत उन्नत था। इन सब विषयों का अध्ययन और खोज पिछले डेढ़ सौ बरसों में बहुत हुई और -आज इस विषय के अनेकानेक ग्रंथ संसार की प्रायः सभी भाषाओं में लिखे गए हैं। इन सब के मूल आधार संस्कृत और पाली के ग्रन्थ ही हैं अथवा शिलालेख, सिक्के और खुदाई में पाई गई वस्तुएँ और सामग्री। इनके ही बल पर हमारा प्राचीन इतिहास भी अब बहुत अंशों में प्रायः पूरा-पूरा तैयार किया गया है और आज अनेक विद्वान् उसके अनजान कोनों में खोज करने में लगे हैं। इसमें पश्चिमीय विद्वानों ने बहुत काम किया है और भारतीय विद्वान् भी अपने अतीत को खोज निकालने में अब किसी से पीछे नहीं हैं। यहाँ उसी का थोड़ा दिग्दर्शनमात्र कराया जा सकता है। राजकीय संस्थाओं और उथल-पुथल का इतिहास तो इतना विस्तृत है कि उसके लिए हजारों पृष्ठों की पुस्तक भी काफी नहीं होती। हमारे वाणिज्य-व्यापार, कला-कौशल और साहित्य-वाङ्मय का इतिहास भी इसी प्रकार हजारों पृष्ठों में लिखा गया है और दिन प्रतिदिन उसका नया मसाला मिलता जाता है और उसका आकार बढ़ता जाता है। विज्ञान संबंधी कुछ बातें ऊपर कही गई हैं, पर भौतिक ज्ञान के अलावा हमारे पूर्वजों ने आध्यात्मिक ज्ञान चूड़ांत तक पहुँचाया और हमारे दर्शन की सूक्ष्मता और विस्तार तथा सार्वभौमिकता को अभी तक संसार की अध्यात्म विद्या और दर्शन नहीं पहुँच पाए हैं।

इसमें बिहार का, जिसमें मिथिला, मगध और काशल के पूरबी हिस्से शामिल हैं, बहुत बड़ा भाग रहा है, और यदि यह कहें कि प्राचीन भारत का इतिहास बिहार के इतिहास का ही एक वृहत् आकार है तो अत्युक्ति न होगी। जहाँ तक खोज से पता चलता है, थोड़े शब्दों में उसका सारांश यहाँ देने का प्रयत्न करूँगा। हजारों वर्षों की हालत एक-सी नहीं रही है। उसमें उतार-चढ़ाव हुआ ही है और एक समय की बातें दूसरे समय के लिए ठीक नहीं हैं। तो भी प्राचीन भारत का चित्र खींचा जा सकता है। यहाँ संस्कृत विद्या के आधार पर जो कुछ मिला है, उसी का परिचय दिया जायगा। इसलिए आधुनिक अथवा अर्वाचीन इतिहास को छोड़ देता हूँ। प्रायः मुसलमान विजय के पहले तक का ही दिग्दर्शन होगा।

१. मूर्त्तिकला और स्थापत्य

मूर्त्तिकला, चित्रकला, स्थापत्य और संगीत मुख्य कलाएँ हैं। भारत-वर्ष में, जहाँ की अधिकांश जनता आज भी मूर्त्तिपूजक है और किसी न किसी रूप में ईश्वराधन के लिए मूर्त्तियों की शरण लेती है, मूर्त्तिकला का उद्भव और उन्नति कोई आश्चर्य की बात नहीं है। बहुत प्राचीन काल से इसके नमूने हमको मिले हैं, जिनको देख कर कलाविद् आज भी चकित हो जाते हैं। ये नमूने "सोना, चाँदी, तांबा, काँसा, पीतल, अष्टधातु आदि सभी प्राकृतिक तथा कृत्रिम धातु, पारे के मिश्रण, रत्न, उपरत्न, काँच, कड़े और मुलायम पत्थर, मसाले, कच्ची व पकाई मिट्टी, मोम, लाख, गंधक, हाथी दाँत, शंख, सीप, अस्थि, सींग, लकड़ी एवं कागद के कुट आदि उपादानों को उनके स्वभाव के अनुसार गढ़ कर, खोद कर, उभारकर, कोरकर, पीटकर, हाथ से अथवा औजार

से डौलियाकर, ठप्पा करके वा साँचा छाप के उत्पन्न"[१] किए हुए हैं।

"मूर्त्ति बनाने में मनुष्य के मुख्यतः दो उद्देश्य रहे हैं। एक तो किसी स्मृति को वा अतीत को जीवित बनाए रखना दूसरे अमूर्त को मूर्त रूप देना, अव्यक्त को व्यक्त करना अथवा किसी भाव को आकार प्रदान करना। मूर्त्तिकला में ऐतिहासिक मूर्त्तियाँ पहले सिरे के अंतर्गत और धार्मिक तथा कलात्मक मूर्त्तियाँ दूसरे सिरे के अंतर्गत हैं। वस्तुतः आध्यात्मिक भावना में—उपासना में—जो अतींद्रिय बुद्धिग्राह्य, आत्यंतिक सुख प्राप्त होता है वा रागात्मक अभिव्यक्ति में जो लोकोत्तर सुख है, वह और कुछ नहीं, निराकार को, बुद्धिग्राह्य को अर्थात् भाव को साकारता प्रदान करना है। दूसरे शब्दों में मूर्त्ति, चित्र, कविता वा संगीत को रूप में परिवर्तित करना है। हमारे देश की मूर्त्ति कला ने मुख्यतः इसी दूसरे लक्ष्य की ओर अपना सारा ध्यान रखा है। भौतिक रूप का निदर्शन करके तात्त्विक रूप का दर्शन ही उसका उद्देश्य रहा है।"

इसके सबसे पुराने नमूने हाल की खुदाई में मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा के प्राचीन नगरों के ध्वंसावशेष में मिले हैं। मिट्टी की, पत्थर की तथा तांबे की मूर्त्तियाँ और सब के ऊपर टिकरे भी वे बहुत छोड़ गए हैं। वे टिकरे हाथी दाँत के तथा नीले व उजले रंग के एक प्रकार के काँच के हैं। इन पर डीलवाले और बेडीलवाले बैल, हाथी (जिस पर झूल के कारण जान पड़ता है कि वह सवारी के काम में आता था), बाघ और गेंड़े की तथा पींपल के पत्तों की एवं अनेक प्रकार की अन्य आकृतियाँ मिलती हैं और चित्रलिपि के, एक पंक्ति से तीन पंक्ति तक के, उभरे हुए लेख भी होते हैं। इस सिंध काँठे की सभ्यता में अकीक के मनकों पर एक विशेष प्रकार के सफेद रंग की धारियाँ, विंदु तथा अन्य प्रकार की तरह बनाने का हुनर था। जो मूर्त्तियाँ मिली हैं, उन पर गहने भी हैं। सबसे बढ़ कर मोहेंजोदड़ों

---

१. राय कृष्णदास—भारतीय मूर्त्तिकला १, २, ४, ५

की एक मिट्टी की मुहर पर आसन लगाए एक ध्यानस्थ मूर्त्ति है, जो शिव की है और बुद्ध की मूर्त्ति का निर्विवाद पूर्व रूप है।

इस मूर्त्ति से प्रतिपादित होता है कि उस समय भी उन जातियों में भी योगसाधन विद्यमान था। सभी विद्वान् इस बात को मानने लगे हैं कि वैदिक समय में भी मूर्त्तियाँ होती थीं।

"भारत में अब तक ऐतिहासिक काल की जो सबसे पुरानी मूर्त्तियाँ मिली हैं, वे शैशुनाक वंश (७२७—३६६ ई० पू०) के कई राजाओं की हैं, जैसा कि उन पर खुदे नामों से विदित होता है। उस समय भारतवर्ष १६ महाजनपदों में वा बड़े-बड़े प्रदेशों में बँटा हुआ था, जिनमें कहीं गणतन्त्र (पंचायती) और कहीं राजतंत्र शासन-प्रणाली चलती थी। मगध इन सबमें प्रबल पड़ता था। उक्त शैशुनाक मूर्त्तियों में सबसे पुरानी अजातशत्रु की है, जो बुद्ध का तुल्यकालीन था और ५५२ ई० पू० में गद्दी पर बैठा था।..........अजातशत्रु की मृत्यु ५२५ ई० पू० में हुई थी। अतएव यह मूर्त्ति (ऊँचाई ९'—८") उसी वर्ष की या उससे एकाध साल इधर की होनी चाहिए.......अजातशत्रु के पोते अज उदयी जिसने पाटलिपुत्र बसाया और जिसकी मृत्यु ४६७ ई० पू० में हुई थी) तथा उसके बेटे नंदिवर्द्धन (मृत्यु ४१८ ई० पू०) की मूर्त्तियाँ कलकत्ता संग्रहालय में संगृहीत हैं। ये पटने के पास मिली थीं।

"ये तीनों मूर्त्तियाँ एक ही शैली की हैं तथा आदमी से भी ऊँची-पूरी हैं। इनकी शैली इतनी विकसित है कि उसका आरंभ ई० पू० छठी सदी से कई सौ वर्ष पहले मानना पड़ेगा। इस शैली में काफ़ी वास्तविकता है।"[1]

---

१. राय कृष्णदास—भारतीय मूर्त्तिकला पृ० १३—१४।

"शैशुनाक वंश के बाद मगध में नंदवंश का साम्राज्य हुआ (३६६ से ३२६ ई० पू०)। पीछे यह वंश बहुत अत्याचारी हो उठा था। चाणक्य के पथ-प्रदर्शन में चन्द्रगुप्त मौर्य (३२५–३०२ ई० पू०) ने इस अत्याचार से राष्ट्र का उद्धार किया और मौर्य राजवंश की स्थापना की। चाणक्य के अर्थशास्त्र से मालूम होता है कि उस समय शिल्पियों की श्रेणियाँ अर्थात् पंचायतें होती थीं।" इन श्रेणियों की संख्या १८ बताई गई है, जिनमें बढ़ई, कर्मार, चित्रकार, चर्मकार आदि शामिल थे। चंद्रगुप्त के दरबार में ग्रीक राजदूत मेगास्थनेस् रहता था। उसने उस समय के भारत का वर्णन लिखा है, जिससे पता चलता है कि चन्द्रगुप्त का विशाल प्रासाद एशिया के प्रसिद्धतम प्रासादों को भी मात करता था। मूर्त्तिकला का वास्तु से विशेष संबंध रहा है, क्योंकि अच्छे भवनों पर मूर्त्तियाँ और नक्काशी अवश्य रहती थी और दूसरी ओर मूर्त्तियों की स्थापना के लिए बड़े-बड़े और उच्च कोटि के भवनों का निर्माण किया जाता था।

मौर्यकाल के लोक-प्रसिद्ध राजा अशोक ने शिलास्तम्भों पर अपने संदेश खुदवा दिए थे। ये स्तम्भ कला में उतना ही महत्त्व रखते हैं, जितना उन पर के लेख। अशोक के १२ स्तम्भ मिले हैं और दूसरे चार स्तंभों का जिक्र मिलता है। पर शायद उनकी संख्या इससे अधिक थी। ये स्तम्भ चुनार के पत्थर के हैं और केवल दो भागों में बने हैं। इन पर ऐसा ओप किया हुआ है कि आँख फिसलती है। यह ओप ऐसी विशेषता है, जो संसार में अपना जोड़ नहीं रखती। ये स्तंभ तीस-तीस चालीस-चालीस फुट के हैं और हजार-हजार, बारह-बारह सौ मन के होंगे। ये किस प्रकार अपने स्थान पर पहुँचाए गए, गढ़े-चमकाए गए सो आश्चर्य का विषय है। इन स्तंभों के ऊपर एक परगहा रहता है, जो पत्थर के दूसरे टुकड़े से बना होता है; उसमें एकहरी या दोहरी मेखला पर लौटी हुई कमल-पँखड़ियों की बैठकी, उसके ऊपर कंठा और तब चंखूंटी चौकी और

उसके सिरे पर पशु आसीन होते हैं। कारीगरी की छटा उन जानवरों की मूर्त्ति में देखने में आती है। ये इतनी सुन्दरता और सजीवता के साथ बनाए गए हैं कि संसार भर में कहीं भी प्रस्तर कला इनसे आगे नहीं बढ़ी है। इनमें ऐतिहासिक घटनाओं का अंकन बड़ी सुन्दरता और भावुकता के साथ किया गया है। अशोक काल की दूसरी मूर्त्तियाँ भी मिली हैं, जो मूर्त्तिकला की अद्वितीय नमूना हैं।

साँची और भरहुत की मूर्त्तियों पर देवसभा, राजगृह और नागरिकों के घर बने हुए हैं। जो सामग्री मिली है, उसके अध्ययन से पता चलता है कि उस समय के रहने की इमारतों में ईंट-पत्थर और लकड़ी तीनों का उपयोग होता था। उनकी कुर्सी ईंट की, खंभे पत्थर के, सायवान और पाटन तथा ऊपर के मंडप लकड़ी के होते थे। मकान सात-सात खंड तक के होते थे। अशोक का बनवाया सौ फुट ऊँचा एक स्तूप काफिरिस्तान (जिसका पुराना नाम कपिश है) की राजधानी में छठी सदी तक खड़ा था और ऐसा ही एक दूसरा स्तूप ३०० फुट ऊँचा काबुल-पेशावर के बीच निग्रहार में था। गया जिले में बराबर पहाड़ियों में अशोक के पोते दशरथ ने गुफाएँ बनवाई थीं। वे उस तेलिया पत्थर की हैं, जिसका काटना असम्भव-सा है; परन्तु वे केवल काटी ही नहीं गई हैं वरन् उनकी भीतों पर काँच सरीखी ओप भी की गई है, जिसमें आज भी आप अपना मुँह देख सकते हैं। उस समय की असंख्य मृण्मूर्त्तियाँ भी मिल रही हैं, जो कला की दृष्टि से बड़ी उत्कृष्ट हैं।

मूर्त्तियों और गुफाओं के अतिरिक्त बौद्धों और जैनों के स्तूप और देवमंदिरों के नमूने मिले हैं। चाणक्य के अर्थशास्त्र में नगर में कई देवताओं के मंदिर बनाने का विधान है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि मंदिरों की परंपरा चाणक्य के पहले से चली आती है और मंदिर-वास्तु का स्वतंत्र एवं प्राचीनतर विकास मानना पड़ता है। मंदिर-वास्तु का विशेष अंग शिखर होता है। हिंदुओं की भावना में देवताओं का मुख्य

निवास पर्वतों पर हैं, और इसी कल्पना में शिखर का जन्म है। इस प्रकार उस पुराने युग के भी कला इतिहास में मृण्मूर्त्तियाँ, प्रासाद, गुफा-मंदिर इत्यादि को विशेष स्थान मिला है। इनमें से एक-एक का वर्णन किया जाय तो बहुत स्थान और समय लगेगा। यहाँ इतना कह देना काफी होगा कि ये सब कलापूर्ण और भावपूर्ण तो हैं ही, पर इसके अलावा इनके द्वारा इतिहास बताने की भी शैली चली हुई थी। बुद्ध की जीवनी और उनके पूर्व जन्मों के अनेक दृश्य बड़ी सजीवता से अंकित किए गए हैं। हाथी दाँत की नक्काशी के भी सुन्दर नमूने मिले हैं। इस समय का समाज-जीवन भी सुन्दरता के साथ उनमें अंकित है।

मौर्य-काल से आज तक यह कला विस्फुरित होती रही है। विद्वानों ने भारत के उत्तर, दक्खिन, पूरब, पच्छिम के अनेक स्थानों के नमूनों का बहुत बारीकी के साथ अध्ययन किया है। बुद्धदेव की बहुत सी मूर्त्तियाँ अनेक मुद्राओं में मिली हैं। इनके अतिरिक्त सनातन देवताओं की भी मूर्त्तियाँ मिलती हैं, जो कला की दृष्टि से अपना जोड़ नहीं रखतीं। हिन्दू-मंदिरों में भी पौराणिक कथाएँ उसी प्रकार मूर्त्तियों द्वारा अंकित मिलती हैं, जिस तरह बुद्ध-जीवनी बौद्ध मंदिरों में। उस समय के सुन्दर और विशाल मंदिर या उनके खंडहर आज तक मिलते हैं, जो वास्तु विद्या कहाँ तक पहुँची थी, इसका पता बताते हैं। हमारे पूर्वजों ने स्थापत्य का बहुत अच्छा विवेचन किया था और जिन सामग्रियों और मसालों से उस वक्त भी इमारतों, मंदिरों और मूर्त्तियों का निर्माण किया था, वे आज भी अचरज पैदा करनेवाले हैं। वज्रलेप तो एक प्रख्यात चीज़ है। आज एंजीनियरिंग विद्या बहुत तरक्की कर गई है, पर अभी यह अचंभे की बात है कि हमारे पूर्वजों ने इतने बड़े-बड़े और इतने स्थायी मंदिर उन साधनों के बिना ही, जो आज उपलब्ध हैं, कैसे बनाए।

महाराष्ट्र के वेरूल नामक स्थान में, जिसे अंग्रेजी में एलोरा लिखते हैं, "एक पूरी की पूरी पहाड़ी काट कर मंदिरों में परिवर्तित कर दी गई

है। उनमें कहीं चूने-मसाले वा कील-कांटे का नाम नहीं है। मंदिरों की संख्या पचीस-तीस से अधिक है। ब्राह्मण-मंदिरों के अतिरिक्त बौद्ध एवं जैन मंदिर भी हैं। इनका समय आठवीं सदी है। इनमें से कैलाश-नामक ब्राह्मण-मंदिर सबसे विशाल और सुन्दर है। इसके सभी भाग निर्दोष तथा कलापूर्ण हैं। अपनी जगह पर यह तन कर खड़ा है एवं आस-पास के पहाड़ों से, चारों ओर फैले हुए (लगभग ढाई सौ फुट गहरे और डेढ़ सौ फुट चौड़े) विशाल अवकाश द्वारा असंबद्ध है। उक्त विस्तृत आँगन में जो प्रकृति की नहीं, मनुष्य की कृति है, पहुँचकर दर्शक आश्चर्य से विजृंभित रह जाता है। इसी आँगन में यह अद्वितीय मंदिर है, जिसकी लंबाई कोई एक सौ बयालीस फुट है, जिसमें उत्कृष्ट द्वार, झरोखे, सीढ़ियाँ तथा सुन्दर खम्भों की पंक्तियाँ बनी हुई हैं। इनके लिए पहाड़ की जो जगह खोखली की गई है, उससे बढ़कर मनुष्य के धैर्य, परिश्रम और लगन के बहुत कम उदाहरण मिलेंगे। मसाले और उपकरण जुटा कर बड़ी से बड़ी इमारत खड़ी करने की कल्पना तो हम कर सकते हैं, किंतु यह काम कैसे बना होगा, इसे सोचते ही छक्के छूट जाते हैं! गुफाएँ काटना भी तादृश कठिन नहीं, जितना कि एक पहाड़ में, बिना किसी लगाव के, दुमंजिली-तिमंजिली इमारत को तराश डालना। कैसा विलक्षण काम है! इसी से मिले हुए, खंभों की नियमित पंक्तियों पर आवृत, तीन सुन्दर प्रतिमा-मंडप हैं। इनमें बयालीस पौराणिक दृश्य उत्कीर्ण हैं। रावण कैलाश को उठा रहा है; भयत्रस्त पार्वती शिव के विशाल भुजदंड का अवलम्ब ले रही हैं। उनकी सखियाँ भाग रही हैं, किंतु भगवान् शिव अटल-अचल हैं और अपने चरण से कैलाश को दबा कर रावण का श्रम निरर्थक कर रहे हैं। मंदिर के बाहरी अंश के एक कोने में त्रिपुर-दाह का बड़ा जोरदार अंकन है।"[1]

१. भारतीय मूर्तिकला, पृ० १०६, १०८।

तक्षशिला की खुदाई में जो सारे नगर का भग्नावशेष मिला है, उसके देखने से पता चलता है कि केवल रहने के लिए भवन ही नहीं बल्कि सड़कों, रास्तों और शहर के पानी को निकालने के लिए मोरियों को कितनी खूबी के साथ बनाया गया था। इसी प्रकार बिहार में नालंदा की खुदाई में तैयार भवन निकला है, जिसमें सुन्दर मूर्त्तियाँ अभी भी विद्यमान हैं। वहाँ दीवार पर एक हरिण का चित्र इस खूबी के साथ बना है कि देखते ही बनता है। पुरी में श्री जगन्नाथ का मंदिर एक सुन्दर नमूना है, जिससे बड़ी-बड़ी इमारतों के बनाने का ढंग देखने में आता है। इतनी बड़ी-बड़ी पत्थर की चट्टानों को किस प्रकार गढ़ कर अपने-अपने स्थान पर पहुँचाया गया और कैसे उनको ठीक बैठाया गया, यह एक अत्यन्त मनोरंजक और आश्चर्य का विषय है। भुवनेश्वर में बड़े मंदिर के अतिरिक्त एक छोटा मंदिर है, जिसकी दीवारों पर बहुत मूर्त्तियाँ हैं। इनमें हर एक मूर्त्ति ऐसी सुन्दर और कलापूर्ण बनी है कि देखकर आदमी चाहता है कि उन्हें देखता ही रहे। पर दुःख की बात है कि एक मूर्त्ति भी पूरी साबित नहीं है—प्रत्येक का अंग-भंग हो चुका है। दक्खिन में विजयनगर के भग्नावशेष देखने देश-विदेश के लोग जाया करते हैं और आज भी जो बड़े-बड़े प्रख्यात मंदिर खड़े हैं, उनके बनानेवाले कैसे स्थापत्य विशारद थे, यह देखने से पता चलता है। मैंने जिन चीज़ों का जिक्र किया है, वे सब हिन्दुओं के समय की हैं। मुसलमानों के समय की चीज़ों का ज़िक्र यहाँ नहीं करता, क्योंकि मैं यहाँ संस्कृत विद्या का ही विवेचन कर रहा हूँ। मूर्त्तिकला और स्थापत्य अथवा वास्तुविद्या के कितने ग्रंथ अभी उपलब्ध हैं और कितनों का आज अध्ययन किया जाता है? आज हम पंडितों से केवल यही जानना चाहते हैं कि घर गणना में ठीक है वा नहीं, और मुख्यतः दो ही बातों पर ध्यान देते हैं—उत्तर से दक्खिन की लम्बाई पूरब से पच्छिम तक की लंबाई से ज्यादा होनी चाहिए और दक्खिन और पच्छिम की ऊँचाई उत्तर और पूरब से ज्यादा होनी

चाहिए। इसमें भी तथ्य है, पर और सब तो हम भूल गए हैं और इस विद्या का अभ्यास प्रायः छूट ही गया है।

२. चित्रकला

इसी प्रकार चित्रकला भी एक प्राचीन और उन्नत कला भारतवर्ष में रही है। राय कृष्णदासजी अपनी "भारत की चित्रकला"[1] नामक पुस्तक में पृ० ४–५ पर लिखते हैं:—

"ऋग्वेद (१।१४५) में चमड़े पर बने अग्नि के चित्र की चर्चा है। इससे हमारी चित्रकला की परंपरा उस काल से प्रमाणित होती है। पाणिनि ने संघ-राज्यों (पंचायती राज्यों) के अंक और लक्षणों की चर्चा की है। इन लक्षणों से उन राज्यों के चिह्नों का मतलब है जो पशु, पक्षी, पुष्प, वृक्ष वा नदी-पर्वत आदि होते थे। इसी प्रकार उन्होंने पशुओं को चिह्नित करने के लिए कुछ लक्षणों की चर्चा की है। ये सब लक्षण बिना रेखांक़न (ड्राइंग) के नहीं बन सकते। अतएव पाणिनि के समय में अर्थात् ई० पू० ८वीं सदी में भी चित्रों का पर्याप्त प्रचार रहा होगा। बुद्ध के समय में चित्रकला का इतना प्रचार था कि उन्हें अपने अनुयायियों को उसमें न प्रवृत्त होने की आज्ञा देनी पड़ी। ३री ४थी सदी ई० पू० के बौद्ध ग्रंथ विनय पिटक तथा थेर-थेरी गाथा में चित्रों का उल्लेख है, किंतु उस समय के नमूने अभी तक नहीं मिले हैं। केवल एक नमूना मिला है, जो न मिलने के बराबर है। परंतु ई० पू० दूसरी सदी और उसके बाद से चित्रों के उल्लेखों और नमूनों की संख्या बढ़ने लगती है।"

"वात्स्यायन के काम-सूत्र पर यशोधर नामक एक प्राचीन विद्वान् ने टीका की है। उसमें चित्रकला की व्याख्या करते हुए उसने पहले का एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसमें चित्रकला के छः अंग बतलाए गए हैं,

---

१. काशी, संवत् १९९६ वि० में प्रकाशित।

यथा—१. रूपभेद, २. प्रमाण, ३. भाव, ४.लावण्य-योजना, ५. सादृश्य तथा ६. वर्णिकाभंग ।"

प्राचीन काल में हमारे देश में मुख्यतः तीन प्रकार के चित्र बनते थे—भित्तिचित्र, चित्रपट और चित्रफलक ।

भित्तिचित्र दीवारों पर बनाए जाते थे, जिनका सबसे अच्छा नमूना अजंता की चित्रावली है।

चित्रपट कपड़े और संभवतः चमड़े पर भी बनाए जाते थे, लपेटकर रखे जाते थे अथवा दीवारों पर टाँगे जाते थे।

चित्रफलक लकड़ी, कीमती पत्थर और हाथी दाँत पर ब जाते थे ।

इनके सिवा धूलिचित्र भी बनाए जाते थे, जिनकी वंशज आजकल की साँझी (मराठी राँगोली) है, जो हमारे यहाँ शुभ अवसर पर चौक पूरने की प्रथा के रूप में बची है। इसमें भाँति-भाँति के रंगों के चूर्ण को ज़मीन पर भुरककर आकृतियाँ—मुख्यतः आलंकारिक—अंकित की जाती हैं ।

"धार्मिक अभिव्यक्ति के सिवा प्राचीन काल में चित्रों के मुख्य उपयोग ये जान पड़ते हैं—१. ऐतिहासिक दृश्यों का संरक्षण, २. जीवन की घटनाओं का संरक्षण, ३. रसों का उद्दीपन, ४. प्रेम की अभिव्यक्ति, ५. पति-पत्नी का चुनाव तथा विवाह-संस्कार की संपन्नता एवं ६. घरों का अलंकरण । इनके सिवा संकेत चित्र भी बनते थे, जिनका उपयोग पूजा इत्यादि धार्मिक कृत्यों में होता था, अतएव उन्हें धार्मिक चित्रों के अन्तर्गत रखना होगा । उन चित्रों में मूर्त्तियाँ न बना कर उपास्य देवता के प्रतीकों से उनकी अभिव्यक्ति कर दी जाती थी ।"

इस विषय पर विचार करने के लिए उन नमूनों और ग्रंथों का अध्ययन करना चाहिए, जो आज भी उपलब्ध हैं। भारतवर्ष और सिंहल में अनेक गुफाएँ हैं, जिनमें सुन्दर से सुन्दर चित्र बने हैं। यहाँ पर केवल

एक का कुछ वर्णन कर देना काफी होगा । वह है अजंता की गुफा, जो सबसे सुन्दर मानी जाती है। राय कृष्णदास जी के शब्दों में ही उसका वर्णन देता हूँ—

"अजंता में छोटी-बड़ी कुल उनतीस गुफाएँ हैं। इनके दो भेद हैं—एक स्तूप-गुफा, दूसरी विहार-गुफा। स्तूप-गुफा में केवल प्रार्थना या उपासना की जाती थी। इसलिए वह अधिक लम्बी होती है और उसके अंतिम छोर पर एक स्तूप होता है, जिसके चारों ओर प्रदक्षिणा करने भर का स्थान होता है। वहाँ से द्वार तक दोनों ओर खंभों की पंक्ति रहती है। अजंता की १९वीं गुफा वहाँ की सबसे बड़ी-स्तूप गुफा है और उसका द्वार बड़ा ही भव्य एवं रमणीय है। विहार-गुफा भिक्षुओं के रहने और अध्ययन के लिए होती थी। ये दोनों प्रकार की गुफाएँ और इनमें का सारा मूर्त्तिशिल्प एक ही शैल में कटा हुआ है। किंतु क्या मजाल कि कहीं पर एक छेनी भी अधिक लगी हो। इस दृष्टि से सभी गुफाएँ अत्यन्त उत्कृष्ट हैं, किंतु गुफा नं० १ का, जो एक सौ बीस फुट तक भीतर काटी गई है, कौशल तो एक अचंभा है। प्रायः सभी गुफाओं में चित्र बने हुए थे, जिनमें से १, २, १६ और १७वीं गुफाओं के चित्रों के विशेष अंश बचे हैं। सौभाग्यवश ये सभी गुफाएँ गुप्तकाल की हैं। शेष गुफाओं में कहीं किसी का सुन्दर मुख, कहीं खंडित हाथ-पैर, कहीं घोड़े-हाथी व उनके सवारों के अंग इत्यादि बच गए हैं।

"इन चित्रों की तैयारी की खुलाई (रूपरेखा) बहुत जोरदार, जानदार और लोचदार है। उसमें भाव के साथ-साथ वास्तविकता है, एवं उसमें चीन की तथा उससे उत्पन्न जापानी और ईरानी चित्रकारी की वे सपाटेवाली कोणदार रेखाएँ नहीं हैं, जिनका उद्देश्य भाव की अभिव्यक्ति के बदले अलंकरण ही होता है। रंगों की योजना प्रसंगानुकूल बड़ी आढ्य और चित्ताकर्षक है—कहीं फीके वा बेदम रंग नहीं लगे हैं। आवश्यकतानुसार उनमें विविधता भी है। यथोचित हलका साया लगा कर चित्रों

के अवयवों में गोलाई, उभार, गहराई (डौल) दिखाई गई है। हाथ-पाँव, आँख और अंगभंगी की भाषा से अर्थात् भाव बताने की भाषा से, दूसरे शब्दों में हाथ की मुद्राओं से, आँख की चितवनों से और अंगों के लचाव तथा ठवन से अधिकांश भाव व्यक्त हो जाते हैं।

"यद्यपि इन चित्रों का विषय सर्वथा धार्मिक है और इनमें वह विश्व-करुणा अथ से इति तक पिरोई हुई है, जो भगवान् बुद्ध की भावना का मूर्त्त रूप है, फिर भी जीवन और समाज के सभी अंगों और पहलुओं से इनकी इतनी एकतानता है कि वे सभी अंग और पहलू इनमें पूरी सफलता से अंकित हुए हैं। इतना ही नहीं, सारे जगत् से यहाँ के कलाकारों की पूर्ण सहानुभूति है और उन सबको उन्होंने पूरी सफलता से अंकित किया है।

"मनुष्यों के रूपों के भेद और उनका आभिजात्य दिखाने में चित्रकारों ने कमाल किया है, अर्थात् भिक्षुक ब्राह्मण, वीर सैनिक, देवोपम सुन्दर राजपरिवार, विश्वसनीय कंचुकी और प्रतिहारी, निरीह सेवक, क्रूर व्याध, निर्दय वंधिक, प्रशांत तपस्वी, साधुवेशधारी धूर्त्त, कुलांगना, वारवनिता, परिचारिका आदि के भिन्न-भिन्न मुख-सामुद्रिक और अंग-कद की कल्पना उन्होंने बड़ी मार्मिकता से की है। क्रोध, प्रेम, लज्जा, हर्ष, उत्साह, घृणा, भय, चिन्ता, आदि भाव भी इसी प्रकार खूबी से दरसाए गए हैं।

"यदि कलावंत ने सौंदर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति की है तो विरूप और भयंकर का आलेखन भी उसी सहानुभूति के साथ किया है, अर्थात् उसके लिए सुरूप और विरूप दोनों में ही समान सौंदर्य है। इस कला में ओज और सौकुमार्य दोनों ही की, समान सफलता के साथ व्यंजना हुई है। सबसे विशिष्ट बात यह है कि इसमें कहीं से भी अनावश्यक अलंकरण छू नहीं गया है; क्या चित्रस्थ पात्रों की वेश-भूषा और क्या खंडहर (रिक्त-स्थान) की पूर्त्ति के लिए जो तरहें बनी हैं उनमें।

"तरहों की तो अजंता खान है। छतों में आकाश के अभिप्राय वाले फुल्ल महाकमलों के चौके, जिनके चारों कोनों पर दिगंतों के अंतरिक्ष-विहारी देव-योनि बने हैं, पचासों प्रकार के होंगे। कमल के जंगल की बेलें, कमलों की मुर्रियाँ, आलंकारिक पत्ते की पूँछवाली गौओं की लपेटदार बेल, गोमूत्रिका, झालर, वंदनवार आदि न जाने कितने ही प्रकार की तरहों से यह चित्रसारी भरी हुई है। उनमें स्थूल एवं खर्व मानवों; हाथी, बैल, हंस आदि पशु-पक्षियों; आम इत्यादि फलों; रेखाओं और वृत्तों की ज्यामितिक आकृतियों का स्थान-स्थान पर उपयोग किया गया है, किंतु प्रधानता कमल की है, जो अनेक रूप होकर सर्वत्र व्याप्त है।"

इस लंबे उद्धरण से एक मुख्य स्थान के चित्रों का कुछ ज्ञान हो जायगा। इस प्रकार के और नमूने भी मिले हैं, जिन सबका वर्णन करना अनावश्यक है। यहाँ इतना ही कहना काफी है कि भारतीय कला केवल भारत में ही नहीं रही वह विदेशों में भी गई और पूरब में बर्मा, कोरिया, जापान, चीन और जावा, वोर्नियो द्वीपों में गई और उसी तरह पच्छिम में ईरान, लघुएशिया और अरब तक उसका प्रभाव व्याप्त हुआ।

३. वास्तु, मूर्ति और चित्रकला विषयक साहित्य

वास्तुविद्या के अनेक ग्रंथ संस्कृत में लिखे गए थे। इस शास्त्र में दो प्रमुख शैलियों का उल्लेख मिलता है। एक तो नागर या उदीच्य शैली और दूसरी द्राविड़ या दक्षिणी शैली। आगे चल कर इनके मिश्रण से अन्य अनेक शैलियों का उद्भव हुआ था। तीसरी शैली 'बेसर' कहलाती थी। समरांगणसूत्रधार में नागर, द्राविड़, वावाट, भूमिज, लाट शैलियों की चर्चा है। फिर भी इस विषय के विद्वान् दो ही प्रमुख परम्पराएँ स्वीकार करते हैं—नागर और द्राविड़। दोनों शैलियों की परम्परा बहुत पुरानी है। दक्षिणी (द्राविड़) शैली के प्रवर्त्तक आचार्यों में ब्रह्मा, त्वष्ट्रा, मय, मातङ्ग, भृगु, काश्यप, अगस्त्य, शुक्र, पराशर,

नग्नजित्, नारद, प्रह्लाद, शक्र, वृहस्पति और मानसार के नाम मिलते हैं, और उत्तरी (नागर) शैली के प्रवर्त्तक आचार्यों में शम्भु, गर्ग, अत्रि, वशिष्ठ, पराशर, वृहद्रथ, विश्वकर्मा और वासुदेव के नाम पाए जाते हैं। सभी आचार्यों के ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं पर जो ग्रंथ उपलब्ध हैं उनमें कई आचार्यों के वचन उद्धृत किए गए हैं। इससे यह अनुमान होता है कि किसी समय इनके ग्रंथ उपलब्ध थे। इन दिनों जो ग्रंथ उपलब्ध हैं वे कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इनसे इस शास्त्र के विविध प्रश्नों पर प्रकाश पड़ता है। ये ग्रंथ न होते तो देश के कोने-कोने में प्राप्य प्रासादों और मन्दिरों-मूर्त्तियों आदि का अध्ययन सम्भव नहीं था।

दक्षिणी और उत्तरी दोनों ही परम्पराओं के स्वतन्त्र ग्रंथों के अतिरिक्त पुराणों, आगमों, पद्धतियों, संहिताओं आदि में वास्तुशास्त्र, प्रतिमा-लक्षण, पुर-सन्निवेश (टाउन प्लानिंग) चित्र-लक्षण विषयक सामग्री बिखरी पड़ी है। दक्षिणी परम्परा की ऐसी सामग्री शैव आगमों, पांचरात्र संहिताओं, वैखानस आगमों, अत्रिसंहिता, तंत्र ग्रंथों, ईशान शिवं गुरुदेव पद्धति जैसे ग्रन्थों और तन्त्र समुच्चय आदि में प्रचुर परिमाण में मिलती है। इस शैली के स्वतन्त्र ग्रंथ भी मिलते हैं जिन में विश्वकर्म-शिल्प, मय मत, मानसार, काश्यप-शिल्प (अंशुपद्भेद), अगस्त्य सकलाधिकार, सनत्कुमार वास्तु-शास्त्र, शिल्प-संग्रह, शिल्प-रत्न, चित्र-लक्षण आदि ग्रंथ पाए जाते हैं। 'मानसार' इस मत का वहुत ही प्रामाणिक ग्रंथ है। डा० प्रसन्न कुमार आचार्य ने इस ग्रंथ पर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। यह सत्तर अध्यायों का विशाल ग्रंथ है। इन अध्यायों में विस्तार-पूर्वक गृहनिर्माण, पुरनिवेश, राज-प्रासाद, मूर्ति-निर्माण, भूषण-विधान आदि पर विचार किया गया है।

उत्तरी परम्परा की भी यही कहानी है। इस परम्परा की सामग्री पुराणों में (जैसे मत्स्यपुराण, अग्नि पुराण, भविष्य पुराण), वृहत्संहिता (वाराहमिहिर लिखित) में, किरणतन्त्र में, हयशीर्ष पांचरात्र में,

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में, हेमाद्रि, रघुनन्दन आदि के धर्मशास्त्रीय निबन्धों में तथा हरिभक्ति-विलास में प्राप्त होती है। इस परम्परा की वास्तुशिक्षा के स्वतन्त्र ग्रंथ हैं—विश्वकर्म-प्रकाश, वास्तु-रत्नावली, समरांगण सूत्रधार, सूत्रधार मंडन, वास्तुप्रदीप, वास्तुराजवल्लभ आदि। इनमें महाराज भोज का लिखा समरांगणसूत्रधार बहुत ही महत्त्वपूर्ण और सर्वांगीण ग्रंथ हैं। इस ग्रंथ पर डा० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल ने बहुत अच्छा काम किया है। इस ग्रंथ में पुर, ग्राम, दुर्ग, मार्ग आदि की स्थापना की विवेचना है; राजप्रासाद के निर्माण की विधियां बताई गई हैं और उन प्रासादों में गोपुर, अम्बुवेश्म (जल-घर), क्रीड़ाराम, महानस (भोजन-शाला), कोष्ठागार, आयुध-स्थान, भाण्डागार, व्यायामशाला, नृत्यशाला, संगीतशाला, स्नानगृह, धारायन्त्र (फ़व्वारा), शय्यागृह, वासगृह, प्रेक्षा (रंगमंच), दर्पणगृह, दोलागृह (झूलन), अरिष्टगृह, अन्तःपुर और उससे सम्बद्ध संभारकक्षा, अशोकवन, लतामण्डप, दारुगिरि, वापी, पुष्पवीथी आदि की निर्माण-विधि का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है; जनावास, यन्त्रघटना, प्रतिमा, चित्रकला आदि की विधियों की सविस्तार चर्चा है। इस सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी के लिए डा० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल की "भारतीय वास्तुकला" नामक पुस्तक द्रष्टव्य है।

संस्कृत का वास्तुशास्त्र बड़ा व्यापक विषय है। इसमें केवल भवनों और मंदिरों के निर्माण की विधियाँ ही नहीं बताई गई हैं, अन्य अनेक कला-कौशलों का भी समावेश है। डा० प्रसन्न कुमार आचार्य का कहना है कि "वास्तुकला में सभी प्रकार के भवनों—धार्मिक, आवास-योग्य, सेनायोग्य तथा उनके उपभवनों तथा उपांग-प्रत्यङ्गों आदि का प्रथम स्थान है। पुरनिवेश, उद्यानरचना, पण्यस्थानों और पोतस्थानों आदि का निर्माण; मार्ग-योजना, सेतु विधान, गोपुर विधान, द्वार-निवेश, तोरण-निवेश, परिखा-खनन, वप्रनिर्माण, प्रकार-विधान,

जलभ्रम-योजना, भित्ति-रचना, सोपान-निर्माण भी वास्तुशास्त्र का प्रधान अंग है। वास्तुकला की तीसरी विवेच्य बात है घरेलू और नागरिक उपकरण, जैसे शय्या, मंजूषा (संदूक) पंजर, नीड़, चटाई, रथ, दीप, मार्ग-दीप-स्तम्भ आदि। चौथी बात है, भूषण-रचना, वस्त्ररचना आदि। देवताओं के भूषणों में मौलिमुकुट, शिरस्त्रक आदि भूषण और उत्तरीय आदि वस्त्र भी रहते हैं। इसके सिवा मूर्ति-निर्माण-कला वास्तुकला की सहचरी है। इसलिए लिंग, देवप्रतिमाएँ, ऋषि-मुनियों की प्रतिमाएँ, गरुड़, हंस आदि के चित्र का रचना-कौशल, इस कला का अभिन्न अंग है। वास्तुकला, भवन-निर्माण अथवा पुरनिवेश के प्रारम्भिक कृत्यों—जैसे, भूमिचयन, भूपरीक्षा, शंकुस्थापन, दिक् साम्मुख्य आदि भी वास्तुशास्त्र के अंग हैं।" स्पष्ट है कि वास्तु विद्या बहुत व्यापक शास्त्र है। इसमें हमारे देश के अनेक कला और शिल्प के निर्माण-कौशल का ज्ञान सुरक्षित है। यद्यपि इस शास्त्र के अनेक ग्रंथ खो गए हैं तो भी जो उपलब्ध हैं उनका बहुत महत्त्व है। इससे हमारे देश के समृद्ध कला-कौशल और परिमार्जित रुचि का पता लगता है। इन पुस्तकों की सहायता से हम अपने देश की विस्मृत समृद्धि का अन्दाज़ा लगा सकते हैं। ध्वंसावशेषों के समझने में ये अंधकार के दीप का काम करती हैं।

वास्तुशास्त्र के ग्रंथों में प्रतिमा-लक्षण प्रकरण मिलते हैं। हमारे देश में मूर्ति-निर्माण-कला काफ़ी पुरानी है। मूर्त्ति-पूजा हमारे देश के धर्म का एक मुख्य अंग रहा है इसलिए पुराणों, आगमों, तंत्रों और कर्मकाण्ड के ग्रंथों में अनेक प्रकार से इस कला की चर्चा आती है। मत्स्य-पुराण (अध्याय १५२–२६७), अग्निपुराण (अध्याय ४३.६२), विष्णुधर्मोत्तर, वृहत्संहिता, कामिक-करण-सुप्रभेद-वैखानस-अंशुमद्भेद प्रभृति आगमों और तन्त्रग्रंथों में प्रतिभा-निर्माण, उनके लक्षण आदि का सविस्तर वर्णन है। इनके अतिरिक्त अनेक शिल्प-शास्त्रीय ग्रंथ

हैं जो प्रतिमा-निर्माण-कला के विविध अंगों का विशद विवेचन करते हैं। बहुत से वास्तुशास्त्रीय शिल्प-ग्रंथों में प्रतिमा या मूर्ति-निर्माण-कला पर विवेचन है। ऊपर वास्तुशास्त्रीय ग्रंथों में इनका उल्लेख हो चुका है। इनमें मयमत, मानसार, काश्यपीय, अंशुमद्भेद, आगस्त्य सकलाधिकार और समरांगण सूत्रधार के अतिरिक्त श्रीकुमार का शिल्प-रत्न, अपराजित-प्रच्छा, रूप-मण्डन आदि ग्रंथ मुख्य हैं। इनमें विविध देवी-देवताओं की प्रतिमाओं के लक्षण और प्रमाण दिए गए हैं। प्रतिमा-निर्माण-शास्त्र का साहित्य बहुत विशाल है। जितना कुछ उपलब्ध हुआ है वही पर्याप्त विस्तृत है पर इन उपलब्ध ग्रन्थों से ऐसे अनेक ग्रंथों का पता चलता है जो अब लुप्त हो गए हैं। बौद्ध और जैन मूर्तियों के लिए भी ग्रंथ लिखे गए थे। प्रायः सभी पूजा-पद्धतियों में देवी-देवताओं के ध्यान की विधि है। ये ध्यान-मन्त्र मूर्तियों के पहचानने में बहुत उपयोगी हैं। इनमें विभिन्न मुद्राओं का उल्लेख है जिससे किसी मूर्त्ति को पहचानने में सहायता मिलती है। संस्कृत का यह साहित्य जहाँ एक ओर हमारे देश के शिल्पियों के चिन्तन-मनन की प्रणाली और उसकी समृद्धि की सूचना देता है वहाँ दूसरी ओर हमारे समृद्ध शिल्प को ठीक-ठीक समझने में सहायता भी पहुँचाता है।

मूर्ति-कला के समान चित्र-कला का भी इस देश में बहुत मान था। किसी ज़माने में चित्र-कर्म घर-घर में सम्मानित था। अजन्ता, एलोरा आदि की गुफाओं के भित्ति-चित्रों को देख कर इस देश की इस कला-विषयक समृद्धि का अनुमान होता है। विष्णुधर्मोत्तर के चित्र-शिल्प में कहा गया है कि समस्त कलाओं में चित्र-कला श्रेष्ठ है। वह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को देने वाली है। जिस गृह में यह कला रहती है वह गृह मंगलमय होता है (३, ४५–४८)। एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात यह कही गई है कि नृत्य और चित्र का बड़ा गहरा सम्बन्ध है। मार्कण्डेय मुनि ने कहा है कि नृत्य और चित्र दोनों में ही त्रैलोक्य की अनुकृति होती है। नृत्य में दृष्टि, हाव-भाव आदि की जो भंगिमा बताई गई है

वह चित्र में भी प्रयोज्य है क्योंकि वस्तुतः नृत्य ही परम चित्र है—नृत्यं चित्रं परं स्मृतम् ।

सोमेश्वर की अभिलिखितार्थ-चिन्तामणि कला और शिल्प की जानकारी के लिए विश्वकोश के समान हैं। इसमें चार प्रकार के चित्रों का उल्लेख है—(१) विद्ध चित्र जो वास्तव वस्तु से इतना अधिक मिलता हो कि दर्पण में पड़ी परछाईं के समान दिखाई देता हो; (२) अविद्ध-चित्र जो काल्पनिक होते थे, चित्रकार के भावोल्लास की उमंग में बनाए हुए; (३) रसचित्र और भावचित्र, अर्थात् विभिन्न रसों और भावों की अभिव्यक्ति के लिए निर्मित चित्र; और (४) धूलि-चित्र। इस ग्रंथ में चित्रों में सोने के प्रयोग की विधि भी दी हुई है। शास्त्रीय ग्रंथों से पता चलता है कि चित्रों के बारे में बहुत ऊँचा प्रतिमान स्थापित हुआ था। विष्णुधर्मोत्तर के चित्रसूत्र में कहा गया है कि जो चित्रकार सोए हुए आदमी में चेतना दिखा सके, या मरे हुए में चेतना का अभाव दिखा सके, निम्नोन्नत विभाग को यथावत् दिखला सके; तरंग की चंचलता, अग्निशिखा की कम्पगति, धूम का तरंगित होना और पताका का लहराना स्पष्ट दिखा सके वही वास्तव में चित्रविद् कहे जाने का अधिकारी है। स्पष्ट ही यह बात बड़े प्रौढ़कला-नैपुण्य की अपेक्षा रखती है।

ग्रंथों से पता चलता है कि चित्र नाना आधारों पर बनते थे—काठ या हाथी-दाँत के चित्रफ़लक पर, कपड़े पर, दीवाल पर। दीवाल पर बने भित्ति-चित्रों के तो अनेक उत्तम निदर्शन प्राप्त हो चुके हैं। इसकी विधि विस्तारपूर्वक बताई गई है। किस प्रकार दीवाल को समान करके चूने से तैयार करना, किस प्रकार विविध लेपों से उसे आलेख-योग्य बनाना होता है, वज्रलेप कैसे तैयार होता है, अनेक प्रकार के स्थायी रंग कैसे बनाए जाते हैं घने बाँस की नली में बछड़े के कान के या गिलहरी के रोओं से तूलिका कैसे बनाई जाती है, महीन रेखाओं

को खींचने के लिए ताम्रशंकु किस प्रकार तैयार किया जाता है इत्यादि बातों को बहुत विधिवत् और विस्तारपूर्वक बताया गया है। यद्यपि चित्र-विद्या को बतानेवाले ग्रंथ आज कल थोड़े ही उपलब्ध होते हैं पर इनसे इस शास्त्र की विपुलता का पता तो लग ही जाता है।

४. संगीत, नृत्य और नाट्य कला

संगीत, नाटक और नृत्य तीनों मिली-जुली कलाएँ हैं। संगीत का आरंभ आदिकाल से ही है। सामवेद संगीत का भांडार है। जिस प्रकार इस कला की उन्नति हमारे पूर्वजों ने की है, वह आज भी एक अद्भुत चीज़ है। राग-रागिनी का आविष्कार, समय के साथ उनका सम्बन्ध और हृदय पर प्रभाव डालने की शक्ति का अनुभव वह भी कर सकता है, जिसको संगीत शास्त्र का कोई ज्ञान नहीं है। संगीत में भी सभी प्रकार के रस पाए जाते हैं और कलाकार का श्रेय इसी में है कि जिस भाव या रसका वह संचार करना चाहता है, सुननेवाले के हृदय में उसका संचार कर दे। वैज्ञानिक रीति से अध्ययन करने का ही फल ऐसा हो सकता है और हमारे संगीताचार्यों ने उसी रीति से उसका अध्ययन किया भी था। जो ग्रंथ उन्होंने बनाए हैं, वे अब भी अपने ढंग के निराले हैं। चाहे हवा की फूंक देकर, तारों पर चोट पहुँचा कर, खोखले पर मढ़े चमड़े पर चोट पहुँचा कर अथवा जल से भरे प्याले पर चोट देकर और मुँह से शब्द निकाल कर सबको एक में मिला देना और सबमें सामंजस्य कर देना बड़ी चतुरता, वैज्ञानिक अध्ययन और मानव स्वभाव के साथ गहरे परिचय के द्वारा ही हो सकता है। वही चीज़ आज तक सारे भारतवर्ष में प्रचलित है। संस्कृत में संगीत विषयक अनेक ग्रंथ भी मिलते हैं और अनेक ग्रंथों में संगीत का उल्लेख तो है ही।

संस्कृत में लिखे नाटकों की नामावली देखने से ही स्पष्ट हो जाता है कि यह कला कितनी उन्नत हो चुकी थी।

भरत का नाट्यशास्त्र बहुत प्राचीन है। कितना प्राचीन है यह तो कहना कठिन है परन्तु अभी तक संस्कृत में ऐसा नाटक नहीं मिला है जो इस शास्त्र द्वारा स्थापित नियमों का पालन न करता हो। इसलिए यह ईसवी सन् से प्राचीन होगा। यह शास्त्र नाटकीय विषयों का विशाल विश्वकोश है। इसमें ताण्डव, लास्य, रस, भाव, अभिनय, छन्द, संगीत, रंगमंच, नाटकों के भेद-उपभेद आदि का इतना विस्तृत वर्णन है कि यह निश्चित जान पड़ता है कि इससे पहले इन विषयों का बहुत बड़ा साहित्य रहा होगा। पाणिनि की अष्टाध्यायी में कुछ पुराने नटसूत्रों का उल्लेख भी मिलता है। ग्रंथ में कहीं-कहीं आनुवंश्य श्लोक उद्धृत हैं जिससे पता चलता है कि इस शास्त्र के पहिले भी कोई शास्त्र था। आनुवंश्य का अर्थ होता है 'वंश-परम्परा से प्राप्त'। नाट्यशास्त्र में स्पष्टरूप से लिखा है कि नाट्य लोक का अनुकरण है। इसमें चार प्रकार के अभिनयों की चर्चा है—(१) आंगिक, (२) वाचिक, (३) सात्विक तथा (४) आहार्य। आंगिक अर्थात् देह सम्बन्धी अभिनय उन दिनों चरमोत्कर्ष पर था, इसमें देह, मुख और चेष्टा के अभिनय प्रमुख थे। सिर, हाथ, कटि, वक्ष, पार्श्व और पैर आदि अंगों के सैकड़ों प्रकार के अभिनय नाट्य शास्त्र और उसके किंचित् परवर्तीग्रंथ अभिनय-दर्पण (नन्दिकेश्वर लिखित) में विस्तार के साथ बताए गए हैं। अंग या उपांग के अभिनय किन अवसरों पर होते हैं इसका भी उल्लेख है। नाना प्रकार से घूम कर नाची जानेवाली भंगिमाओं का भी विस्तार से विवेचन किया गया है। वाचिक अभिनय से वचन सम्बन्धी अभिनय का तात्पर्य है। नाट्य-शास्त्र में कहा गया है कि वचन का अभिनय बहुत सावधानी से करना चाहिए क्योंकि वह नाट्य का शरीर है। उपयुक्त स्थलों पर उपयुक्त यति और काकु देकर बोलना, नाम-आख्यात-निपात-उपसर्ग-समास-तद्धित-विभक्ति-संधि आदि को ठीक-ठीक प्रकट करना, छन्दों को उचित ढंग से पढ़ सकना, प्रत्येक स्वर और व्यञ्जन का उपयुक्त रीति से उच्चारण करना इत्यादि बातें वाचिक अभिनय में बताई गई हैं किन्तु केवल
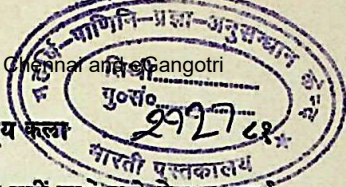
शारीरिक और वाचिक अभिनय ही सब कुछ नहीं माने जाते थे। आहार्य या वस्त्रालंकारों की उपयुक्त रचना भी अभिनय का ही अंग समझी जाती थी। यह चार प्रकार की होती थी—पुस्त, अलंकार, अंग-रचना और संजीव। नाटक के रंगमंच को सजाने के लिए पहाड़, रथ, विमान आदि का ऐसा संकेत देना आवश्यक होता है जिससे दर्शक यथार्थता का अनुभव कर सकें। इसके लिए तीन प्रकार के पुस्त व्यवहृत होते थे। वे या तो बाँस या सरकण्डे के बनते थे जिन पर कपड़ा चढ़ा दिया जाता था, या फिर यन्त्रादि की सहायता से फरजी बना लिए जाते थे, या फिर अभिनेता इस बात की चेष्टा करता था कि दर्शक उन वस्तुओं का प्रत्यक्ष बोध कर ले। इन्हें क्रमशः सन्धिम्, व्याजिम् और चेष्टिम् पुस्त कहते थे। अलंकार में विविध प्रकार के माल्य, आभरण, वस्त्र आदि की गणना होती थी और अंग-रचना में पुरुषों तथा स्त्रियों के अनेक प्रकार के वेश-विन्यास शामिल थे। प्राणियों के प्रवेश को संजीव कहते हैं। इन तीनों प्रकार के अभिनयों से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण अभिनय 'सात्त्विक' अभिनय माना जाता था। भिन्न-भिन्न रसों और भावों के अभिनयों में अभिनेता या अभिनेत्रियों की वास्तविक परीक्षा होती थी। नाट्यशास्त्र में ज़ोर देकर कहा गया है कि 'सत्त्व' में ही नाट्य प्रतिष्ठित है। 'सत्त्व' की अधिकता, समानता और न्यूनता से ही नाटक उत्कृष्ट, मध्यम या निकृष्ट कोटि का हो जाता है। यह सत्त्व अव्यक्त रूप है, भाव और रस के आश्रय पर है। इसके अभिनय में रोमांच, अश्रु, स्वेद आदि का यथास्थान और यथारस प्रयोग अभीष्ट है।

नाट्यशास्त्र में नाट्यधर्मी प्रवृत्तियों का बड़ा विस्तार है। नाट्यधर्मी प्रवृत्तियाँ एक प्रकार के 'कन्वेंशन्स' जो परम्परा से प्राप्त हैं। नाट्यशास्त्र में अनेक प्रकार के मनोरंजक और रसोद्दीपक रूपकों का विस्तारपूर्ण विवेचन है। शृंगार, वीर या करुणरस-प्रधान प्रख्यातवंशीय, ऐतिहासिक नायकों को आश्रय करके लिखे गए 'नाटक'; नागरिक रईसी की कवि-कल्पित प्रेम-कथाओं के 'प्रकरण'; धूर्तों या दुष्टों के

हास्योत्तेजक उपस्थापन मूलक 'भाण'; स्त्रीहीन वीररस-प्रधान एकांकी 'व्यायोग'; तीन अंक के 'समवकार'; भयानक दृश्यों को दिखानेवाले, भूत-प्रेत-पिशाचों के उपास्थापक 'डिम'; स्वर्गलोक की प्रेमिका के लिए जूझनेवाले प्रेमियों की सनसनीखेज प्रतिद्वन्द्विता वाले 'ईहामृग'; स्त्री-शोक की करुणकथा से समन्वित एकांकी 'अंक'; एक ही पात्र द्वारा अभिनीयमान विनोद और श्रृंगार-प्रधान 'वीथी'; हँसानेवाले 'प्रहसन' आदि रूपक उन दिनों बहुत लोकप्रिय थे। फिर बहुत तरह के उपरूपक भी थे जिनमें 'नाटिका' का प्रचलन सर्वाधिक था। यह स्त्री-प्रधान चार अंकों का नाटक होता था और इसका कार्यक्षेत्र साधारणतः राजकीय अन्तःपुर तक ही सीमित था। 'प्रकरणिका', 'सट्टक' और 'त्रोटक' भी इसी श्रेणी के हैं। 'गोष्ठी' में नौ-दस पुरुष और पाँच या छः स्त्रियाँ अभिनय करती थीं। 'हल्लीश' में एक पुरुष कई स्त्रियों के साथ नृत्य करता था। बहुत-से छोटे-मोटे रूपक और भी थे। परवर्ती ग्रंथों में अठारह प्रकार के उपरूपक गिनाये गए हैं। ऊपर गिनाए गए उपरूपकों के अतिरिक्त नाट्य-रासक, प्रस्थान, उल्लास्य, काव्य, प्रेंखण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्ममल्लिका, भाणिका आदि उपरूपकों की चर्चा परवर्ती ग्रंथों में मिलती है। संस्कृत में अश्वघोष, भास, कालिदास, भवभूति, श्रीहर्ष आदि बड़े-बड़े नाटककारों के नाटक, प्रकरण, नाटिका आदि रूपक मिलते हैं। शूद्रक का 'मृच्छकटिक', कालिदास का 'शाकुन्तल', भवभूति का 'उत्तर रामचरित', विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस', भट्ट नारायण का 'वेणीसंहार', महाराज श्री हर्षदेव की 'रत्नावली' आदि रूपक देश-विदेश के विद्वानों की प्रशंसा के पात्र सिद्ध हुए हैं। कुछ थोड़े-बहुत अन्य रूपक, जैसे भाण, सट्टक आदि भी मिल जाते हैं। परन्तु इतने विशाल संस्कृत साहित्य में उपरूपकों में से अधिकांश को उदाहरण स्वरूप समझने के लिए भी मुश्किल से एक-आध पुस्तक मिल पाती है। कभी-कभी तो एक भी नहीं मिलती। सम्भवतः ये लोकनाट्य-रूप में ही जीते हों, परवर्तीकाल में जब रंग-

मंच बहुत उन्नत हो गया होगा और भास, कालिदास आदि निपुण कवियों के नाटक उपलब्ध होने लगे होंगे तो कम प्रतिभावाले कवियों के लिखे नाटक म्लान पड़ गए होंगे। साधारण जनता में फिर भी लोक-नाट्यों का रूप आजकल की रामलीला और रासलीलाओं की तरह बना रहा होगा। 'ईहामृग', 'डिम' आदि के पुराने नमूने नहीं प्राप्त होते। परवर्ती-काल में कुछ कवियों ने शास्त्रीय लक्षणों को देखकर कुछ नमूने बनाए थे परन्तु वे बहुत महत्त्व के नहीं हैं। स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र के लेखक ने केवल पुस्तकी विद्या का ही विश्लेषण नहीं किया है बल्कि उस समय लोक में जितने प्रकार के नाटक प्रचलित थे सबका विश्लेषण किया है। कभी-कभी यह बात विवादास्पद हो उठती थी कि लोक-जीवन का ठीक-ठीक अनुकरण नाटक में हुआ या नहीं। नाट्यशास्त्र में कहा है कि ऐसे अवसरों पर राजा को प्राश्निक की नियुक्ति करके फैसला करना चाहिए। यदि नृत्य की भंगी में विवाद उपस्थित हुआ हो तो नर्तक निर्णायक हुआ करता था। इसी प्रकार छन्द के मामले में छन्दोविद्, पाठ-विचार के मामले में वैयाकरण, अन्तःपुर के विषय में रानी और राजकीय विषय में विवाद हो तो राजा स्वयं निर्णायक होता था। नाटकीय सौष्ठव का मामला होता था तो दरबार के अच्छे वक्ता बुलाए जाते थे। प्रणाम, भंगिमा, चेष्टा, वस्त्राभरण की योजना, नेपथ्य-रचना आदि के प्रसंग में चित्रकार निर्णायक बनाया जाता था और स्त्री-पुरुष के परस्पर के आकर्षण के मामलों में गणिकाएँ उत्तम निर्णायक समझी जाती थीं। भृत्यों या सेवकों के आचरण के विषय में विवाद उठने पर राजा के भृत्य प्राश्निक होते थे। शास्त्री विषयों से सम्बद्ध विवाद उठने पर शास्त्रीय पण्डित बुलाए जाते थे। नाट्यशास्त्र के सत्ताईसवें अध्याय में प्राश्निकों की नियुक्ति का विधान है। इससे जान पड़ता है कि लोक जीवन के विभिन्न पक्षों के अभिनयों में कितनी सावधानी बरती जाती थी।

नाट्यशास्त्र में स्थायी और अस्थायी रंग-शालाओं के निर्माण की भी विधियाँ बताई गई है। दर्शकों को भी नाटकीयविधि का अच्छा

ज्ञान आवश्यक होता था। नाट्यशास्त्र में कहा है कि दर्शक के सभी इन्द्रिय ठीक होने चाहिएँ। ऊहापोह में उसे पटु होना चाहिए। दोष का जानकार और अनुरागी होना चाहिए। जो व्यक्ति शोक से शोकान्वित न हो सके और आनन्दजनक दृश्य देख कर आनन्दित न हो सके वह उत्तम प्रेक्षक नहीं हो सकता। नाट्यशास्त्र में इन प्रेक्षकों को शास्त्रीय मर्यादा से भी परिचित कराने का प्रयत्न है। इस ग्रंथ में नाट्यधर्मी परम्पराओं का बहुत विशाल संग्रह है। इन नाट्यधर्मी प्रवृत्तियों को जाने बिना प्रेक्षक नाटक का पूरा रस नहीं ले सकता। फिर भी नाट्यशास्त्र का बल लोक-प्रवृत्तियों पर है। उन्होंने छब्बीसवें अध्याय में बताया कि लोक में जो शास्त्र, शिल्प, क्रिया प्रचलित हैं वे सभी नाट्य में आ जाती हैं। इस प्रकार नाट्यशास्त्र हमारे देश की नाटकीय परम्परा का बहुत विस्तारपूर्वक विवेचन करता है। वह मुख्य रूप से अभिनेता को लक्ष्य करके लिखा गया है। परन्तु कवियों और दर्शकों को भी उसने प्रेरणा दी है। परवर्तीकाल में 'नाट्यदर्पण', 'दशरूपक' आदि जो ग्रंथ लिखे गए उनकी दृष्टि इतनी व्यापक नहीं थी। वे मुख्यरूप से यहीं बताना चाहते थे कि नाटककारों को नाटक कैसे लिखना चाहिए।

नृत्यकला आजकल एक प्रकार से दूषित समझी जाती है। इसका संसर्ग कुछ ऐसे लोगों से हो गया है कि हम इसे हेय दृष्टि से देखने लग गए थे, पर यह भी अत्यन्त उच्चकोटि की कला है और केवल शृंगार-रस का ही उद्बोधन इससे नहीं होता, बल्कि और रसों का भी मार्मिक चित्रण हो सकता है। इस कला के भी अनेकानेक ग्रंथ हैं, जिनमें भरत का नाट्यशास्त्र विशेष उल्लेख योग्य है। और यह संतोष का विषय है कि इसको गढ़े से उठा कर सभ्य समाज में स्थापित करने का प्रशंसनीय प्रयत्न अनेक गुणी और कलाविद् आज कर रहे हैं।

नाट्यशास्त्र में दो प्रकार के नाचों का विस्तृत उल्लेख मिलता है। एक को ताण्डव कहते हैं, दूसरे को लास्य। ताण्डव (नृत्य) में रस और भाव नहीं होते, लास्य (नृत्य) में होते हैं। नाट्यशास्त्र में एक प्रसंग में

भरतमुनि से अन्य मुनियों ने प्रश्न किया कि शिवजी ने नृत्य—रस-भाव-विवर्जित नाच—का प्रवर्त्तन क्यों किया तो उन्होंने उत्तर में कहा कि नृत्य किसी अर्थ की अपेक्षा नहीं रखता, वह शोभा के लिए प्रयुक्त होता है। स्वभावतः ही लोग इसे पसन्द करते हैं, यह मंगलजनक है इसलिए शिवजी ने इसका प्रवर्तन किया। विवाह, जन्म, प्रमोद और अभ्युदय आदि के अवसरों पर यह विनोदजनक है। इस उत्तर से अनुमान किया जा सकता है कि विवाह आदि के अवसरों पर इसका प्रयोग होता था। नृत्य के आविर्भाव की मनोरंजक कहानी नाट्यशास्त्र में दी हुई है। ब्रह्मा के अनुरोध पर भूत-गण-समावृत हिमालय पर शिवजी ने संध्याकाल में जो नर्तन किया उसी की विधि उन्होंने तण्डु नामक मुनि को सिखाई। किस प्रकार हाथ और पैर के योग से १०८ प्रकार के 'करण' बनते हैं, दो करणों से 'नृत्यमातृका', तीन से 'कलायक', चार से 'मण्डन', पाँच से 'संघातक', इत्यादि बनते हैं। फिर नौ तक करणों के संयोग से 'अंगहार' बत्तीस प्रकार के होते हैं। विभिन्न अंगहारों के साथ चार 'रेचक' होते हैं—'पादरेचक', 'कटिरेचक', 'कररेचक', 'कंठरेचक'। जब शिव अंगहारों और रेचकों के साथ नर्तन कर रहे थे उसी समय आनन्दोल्लास में पार्वती ने सुकुमार नृत्य किया जो 'लास्य' कहलाता है। एक और भी कथा है। दक्ष-यज्ञ-विध्वंस के अवसर पर संध्याकाल में शिव उन्मत्त नर्तन कर रहे थे उस समय उनके गण मृदंग, पटह, भेरी, भाण्ड, डिंडिम, गोमुख, प्रणव, दर्दुर आदि बाजे बजा रहे थे। शिवजी ने समस्त अंगहारों के नाना भाँति के प्रयोग से लय और ताल के अनुकूल नर्तन किया। देवताओं, देवियों और गणों ने विविध अंगहारों के बन्ध—पिण्डिकाओं—को याद रखा। उन-उन देवताओं के नाम से ही ये पिण्डिकाएँ प्रसिद्ध हुईं। तब से किसी आमोद-प्रमोद के अवसर पर इस मंगलदायी 'नृत्त' का प्रयोग होता आ रहा है 'तण्डु' मुनि के नाम पर इसे ताण्डव कहते हैं। इन कथाओं से ताण्डव की महिमा एवं लोकप्रियता दोनों का परिचय मिलता है। अनेक प्राचीन मन्दिरों पर भिन्न-

भिन्न करणों और अंगहारों के चित्र उत्कीर्ण हैं। नाट्यशास्त्र के चतुर्थ अध्याय में इसके प्रयोग की विधि विस्तार से बताई गई है। प्राचीन भारत में नृत्य कला का सम्मान था। महाकवि कालिदास ने नृत्य को देवताओं का 'चाक्षुषयज्ञ' कहा है और इस प्रकार इसके महत्त्व की घोषणा की है।

संगीत में नृत्य, नाट्य और वाद्य सम्मिलित हैं। वैदिक काल में ही सात स्वरों के विभाजन का परिचय मिल जाता है। वैदिक साहित्य में दुन्दुभि, भूमिदुन्दुभि, आघाति आदि आतोद्य (चमड़े से मढ़े हुए) बाजे बन चुके थे और वीणा, काण्डवीणा आदि वीणाजातीय तन्त्री-यन्त्र बन चुके थे। रामायण और महाभारत में तथा बौद्ध साहित्य में अनेक वाद्य-यन्त्रों का उल्लेख मिलता है। नाट्यशास्त्र के काल में स्वर, ग्राम, श्रुति, मूर्च्छना आदि को समझाया गया है परन्तु वह पुरानी परम्परा है। एक समय उनका ठीक अर्थ समझ में नहीं आता। राग का शब्दतः उल्लेख इस ग्रंथ में नहीं मिलता पर 'जाति' शब्द का व्यवहार मिलते-जुलते अर्थ में मिल जाता है। जातियों की संख्या १८ बताई गई है। चौथी-पाँचवीं शताब्दी के आस-पास मतंग नाम के एक आचार्य हुए, जिन्होंने 'बृहद्देशी' नामक ग्रंथ लिखा। इसी में रागों का प्रथम उल्लेख है। 'देशी' शब्द का अभिप्राय यह बताया है कि 'देशी' या 'देशि' वह है जिसे राजा से लेकर अबला-बाल-गोपाल तक सभी स्वेच्छा से—बिना किसी शास्त्रीय शिक्षा के—गाते हैं। निस्संदेह सारे देश में अनेक प्रकार के प्राकृत निबद्ध गान होंगे जिन्हें आचार्य ने शास्त्रीय रूप दिया होगा। तेरहवीं शताब्दी के शार्ङ्गदेव नामक आचार्य का 'संगीत रत्नाकर' बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें विस्तार के साथ संगीत के विविध रूपों और अंगों का विवेचन है।

सच पूछा जाय तो मूर्त्तिकला और चित्रकला उन्हीं भावों और रसों को मूर्त्ति और चित्र द्वारा अंकित करना और स्थायित्व देना चाहती है, जो संगीत, नाट्य और नृत्यकला द्वारा इंगित किए जाते हैं। इस लिए

इन कलाओं का एक दूसरे के साथ गहरा संबंध है। इतना ही नहीं, मनुष्य-शरीर और मनुष्य-मनोभावना का ज्ञान जब तक परिपक्वं और पूर्ण नहीं होगा, तब तक इन कलाओं में पूरी सफलता नहीं हो सकती, विशेषकर जब इनके द्वारा हम वास्तविकता को व्यक्त करना चाहते हैं। पर उच्चकोटि की कला वास्तविकता तक ही अपने को परिमित और बाधित नहीं रखती, वह वास्तविकता से आगे बढ़ कर उद्देश्यों और आदर्शों को भी मनुष्य के सामने हृदयग्राही रूप में रखना चाहती है। हमारी कल इस तरह वास्तविकता को छोड़ आदर्शवादी भी है, और इसका महत्त्व इसलिए है कि इसने इन दोनों में सामंजस्य और समन्वय स्थापित किया है।

४. काव्य-साहित्य

काव्य और साहित्य की बात में नहीं कहना चाहता, क्योंकि इनका पठन-पाठन आज भी प्रचलित है और आधुनिक विद्वान् इनका अध्ययन करके चकित होते हैं। आजकल वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति प्रभृति के काव्य-रस को पान करके कौन तृप्त नहीं होता? कहने का तात्पर्य यह है कि सभी प्रकार की विद्याओं, कलाओं और साहित्य का भांडार संस्कृत में बहुत बड़ा है।

हमारे देश में सभी विद्याओं का मूल, वेद माना जाता रहा है। प्रत्येक शास्त्र किसी-न-किसी रूप में वेदों से अपना सम्बन्ध जोड़ता है। कामशास्त्र और अर्थशास्त्र भी अपना मूल वेदों में खोजते दिखाई देते हैं। केवल बौद्धों और जैनों के विशाल साहित्य में यह प्रवृत्ति नहीं पाई जाती। लौकिक रस का साहित्य कब से लिखा जा रहा है, इसका ठीक अनुमान करना कठिन है। रामायण को इस देश में आदि काव्य कहा जाता है और इसके रचयिता बाल्मीकि मुनि को आदि कवि। निस्सं ह रामायण बहुत उत्तम कोटि का काव्य है। उसे अलंकृत काव्यों का आदि-ग्रन्थ मानना भी उचित ही है। परन्तु इतना सुन्दर काव्य एकाएक

नहीं बन गया होगा । इसकी एक परम्परा होनी चाहिए। यद्यपि रामायण के वर्त्तमान रूप में पंडितों ने कुछ प्रक्षेप खोजा है—विशेषकर बालकाण्ड और उत्तर-काण्ड में—परन्तु यह सभी मानते हैं कि इसका पुराना रूप सन् ईसवी के कोई तीन-चार सौ वर्ष पहले अवश्य बन चुका होगा। रामायण हमारे देश के साहित्य का बड़ा भारी प्रेरणा स्रोत रहा है। प्रत्येक युग के कवि, नाटककार और आचार्य इस महाग्रंथ से प्रेरणा पाते रहे हैं और आज भी पा रहे हैं। भास, कालिदास, भवभूति आदि महाकवियों ने इससे प्रेरणा ली है। रामायण की ही भाँति महाभारत भी हमारे देश के कवियों का प्रेरणा-स्रोत रहा है। भारतवर्ष के साहित्य का विश्लेषण करनेवाले विद्वानों ने देखा है कि इस देश के रसात्मक साहित्य का अधिकांश भाग इन दो महाग्रंथों से प्रभावित है। महाभारत में रामायण की कथा के मिलने का प्रमाण मिल जाता है पर सम्पूर्ण रामायण में कहीं भी महाभारत की किसी कथा का चिह्न खोजना कठिन है। कौरव-पाण्डवों का नाम न आना तो स्वाभाविक ही है क्योंकि वे राम के बाद हुए थे। ये दोनों ही ग्रंथ भारतवर्ष के राष्ट्रीय गौरव हैं। महाभारत तो ज्ञान-विज्ञान की निधि ही है। यद्यपि इन दोनों ग्रंथों में बहुत प्रक्षेप हुए हैं पर दोनों ही सन् ईसवी के बहुत पहले प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। इतना निश्चित है कि महाभारत का वर्त्तमान रूप प्राप्त होने के पहले ही रामायण को वर्तमान रूप प्राप्त हो गया था। महाभारत के वन पर्व में केवल रामायण की कथा ही नहीं आती वरन् बाल्मीकि कवि की चर्चा, राम का विष्णु अवतार होना आदि बातें भी पाई जाती हैं। कुछ कहानियाँ जिन्हें पंडित मंडली बाद की प्रक्षिप्त मानने में नहीं हिचकती (जैसे हनुमान का लंका दाह) महाभारत में पाई जाती हैं इन सब बातों से यह सिद्ध होता है कि रामायण के वर्तमान रूप का ही संक्षिप्त रूप महा-भारत में जोड़ा गया है। जिस प्रसंग में वह कहानी महाभारत में कही गई है वह भी मूल कथा के साथ कुछ विशेष योग नहीं रखती। द्रौपदी को कोई राक्षस चुरा ले जाता है और युधिष्ठिर दुःखी होते हैं, उन्हीं को

उत्साहित करने के लिए रामोपाख्यान सुनाया जाता है। अनुमान किया गया है कि द्रौपदी-हरण की यह कहानी सीता-हरण के आदर्श पर ही रची गई होगी। महाभारत को वर्तमान रूप चौथी शताब्दी में प्राप्त हो गया था। रामायण उससे दो एक शताब्दी पहले ही यह रूप पा गया होगा। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि समूचा रामायण समूचे महाभारत से पुराना है। असल में जैसा कि एक यूरोपियन पंडित ने कहा है कि साहित्य के इतिहास में यह एक अद्भुत विरोधाभास है कि रामायण महाभारत से प्राचीन है और महाभारत रामायण से प्राचीन। असल में महाभारत के अनेक उपाख्यान निश्चित ही रामायण से प्राचीन हैं। इनमें से कई की चर्चा रामायण में भी आती है जैसे नल, सावित्री आदि के उपाख्यान। परन्तु सम्पूर्ण रामायण में पाण्डवों की. चर्चा कहीं नहीं मिलती। यह अनुमान किया गया है कि राम का अवतार माना, जाना, श्रीकृष्ण के अवतार माने जाने के बाद की कल्पना है यद्यपि राम कृष्ण के पूर्ववर्ती अवतार हैं। इसके सिवा रामायण में वर्णित सभ्यता उतनी लड़ाकू नहीं है जितनी महाभारत में वर्णित सभ्यता है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि रामायण उत्तरकालीन समाज के कवि की रचना है महाभारत पूर्वकालीन समाज के।

जिन दिनों त्रिपिटक की रचना (संकलन) हुई थी उन दिनों राम की कथा जरूर प्रचलित रही होगी। जातक कथाओं में इसके प्रमाण हैं पर रामायण काव्य का यही रूप था या नहीं, यह कहना कठिन है। सारे बौद्ध साहित्य में रामायण के दो प्रसिद्ध चरित्र हनुमान और रावण का नाम भी नहीं पाया जाता। इस से किसी-किसी ने अनुमान किया है कि रामायण काव्य बौद्ध युग में बना होगा। पहले बना भी हो तो बौद्ध प्रदेशों में अज्ञात ही रहा होगा। लेकिन सम्पूर्ण रामायण में बौद्ध प्रभाव खोजने पर भी नहीं मिलेगा। केवल एक जगह राम के मुख से बौद्ध को नास्तिक कहलाया गया है पर वह सभी प्रतियों में प्राप्त नहीं होता और प्रक्षिप्त हो सिद्ध हो चुका है। साथ ही इस प्रकार यह भी प्रमाणित

करने का प्रयत्न किया गया है कि रामायण बौद्ध काल से पहले ही रचित हो गया था। अवश्य ही प्रक्षेप बाद में होता रहा होगा। पर प्रक्षेप सन् ईसवी की पहली शताब्दी के बाद रुक गया होगा। खोज करने पर रामायण की कथा का बौद्धों और जैनों में समादृत होना पाया जा सकता है। वसुबंधु के ग्रंथों के जो चीनी अनुवाद प्राप्त हैं उनसे स्पष्ट है कि रामायण (लगभग इसी रूप में) बौद्धों में भी समादृत थी। सन् ईसवी की पहली शताब्दी में विमल सूरि ने रामायण की कथा को आश्रय करके "पउम चरिअ" नामक प्राकृत काव्य लिखा था जो जैन धर्म और तत्त्व-वाद के अनुकूल रचा गया था। ६०० ई० के आसपास कम्बोडिया में रामायण का धार्मिक ग्रंथ के रूप में प्रचार पाया जाता है। कनिष्क युगीय बौद्ध कवि अश्वघोष के 'बुद्ध चरित' में ऐसे अंश हैं जो रामायण से मिलते-जुलते हैं। इन सब बातों से सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि मूल रामायण बौद्ध युग के पहले का है।

महाभारत को केवल एक ग्रंथ या महाकाव्य कहने भर से इसके बारे में कुछ भी नहीं समझा जा सकता। असल में जैसा कि सुप्रसिद्ध जर्मन पंडित 'विण्टरनित्स' ने कहा है, महाभारत अपने आप में एक समग्र साहित्य (whole literature) है। महाभारत शब्द का अर्थ महायुद्ध है, क्योंकि पाणिनि के मत से "भारत" का अर्थ संग्राम ही होता है। पर जान पड़ता है कि "भारत" शब्द का सम्बन्ध भरतवंश से है, क्योंकि स्वयं महाभारत में ही इस कथा को "महा-भारत-युद्ध" (१४–८१–८) और 'महाभारताख्यान' (१–६२–३९) कहा गया है। सम्भवतः 'महाभारत' शब्द इन्हीं शब्दों का संक्षिप्त रूप हो, इसीलिए पंडितों ने महाभारत का अर्थ किया है, "भरतवंश-वालों के युद्ध की कथा।" स्वयं महाभारत में इस नामकरण का एक मज़ेदार कारण दिया हुआ है। एक बार देवताओं ने स-रहस्य चारों वेदों को तराजू के एक पलड़े पर और महाभारत को दूसरे पलड़े पर रख

कर तोला। महाभारत भारी निकला। इसीलिए 'महान्' और 'भारवान्' (भारी) होने के कारण यह महाभारत कहा जाने लगा।

किन्तु महाभारत केवल युद्ध की ही कहानी नहीं है। इस महाग्रंथ का बहुत-सा अंश इस युद्ध से किसी प्रकार सम्बद्ध नहीं है। सैकड़ों वर्षों तक मूल कहानी के इर्द-गिर्द अनेक प्राचीनतर आख्यान और तत्त्ववाद जोड़े जाते रहे हैं। वे आख्यान मूल कहानी में इतने प्रकार से और इतने रूपों में आ मिले हैं कि शायद यह निर्णय कभी नहीं हो सकेगा कि मूल कहानी क्या थी और उसमें कौन-सी कहानी कब जुड़ी है। असल में महाभारत उस युग की ऐतिहासिक, नैतिक, पौराणिक, उपदेशमूलक और तत्त्ववाद-सम्बन्धी कथाओं का विशाल विश्वकोश है: भारतीय दृष्टि से महाभारत पाँचवाँ वेद है, इतिहास है, स्मृति है (शंकराचार्य), शास्त्र है, और साथ ही काव्य है। आज तक किसी भारतीय पंडित या आचार्य ने इसकी प्रामाणिकता पर संदेह नहीं किया। कम-से-कम दो हज़ार वर्ष से यह भारतीय जनता के मनोविनोद, ज्ञानार्जन, चरित्र-निर्माण और प्रेरणा-प्राप्ति का साधन रहा है।

स्वयं महाभारत अपने विषय में कहता है—"जैसे दही में मक्खन, मनुष्यों में ब्राह्मण, वेदों में आरण्यक, औषधों में अमृत, जलाशयों में समुद्र और चतुष्पादों में गौ श्रेष्ठ है, उसी प्रकार समस्त इतिहास में यह भारत श्रेष्ठ है (१–१–२६१–३) इस आख्यान को सुनने के बाद अन्य कथाएँ उसी प्रकार फीकी मालूम होंगी जिस प्रकार कोकिल की वाणी सुनकर काग की वाणी सुनना। जैसे पंचभूत से लोक की तीन संविधियाँ उद्भूत होती हैं, उसी प्रकार इस इतिहास को सुनकर कवि बुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं (१–२–३८२–३)।"

महाभारत की मूल कहानी के इर्द-गिर्द बहुत-सी प्राचीन वीर-गाथाएँ, नीति और उपदेश की कथाएँ, वैराग्य और मोक्ष को समझाने वाली कहानियाँ आ जमी हैं। इनमें बहुतेरी बहुत प्राचीन हैं। इन कहानियों के सभ्य भाषाओं में अनुवाद हो चुके हैं। कई कथाएँ एक ही भाषा में

तीन-तीन, चार-चार बार अनूदित हुई हैं। शकुन्तला, ययाति, नहुष, नल, रामचंद्र, विदुला, सावित्री आदि की कहानियाँ बहुत लोकप्रिय हुई हैं। इन उपाख्यानों को पश्चिमी पंडितों ने Epic within epic या 'महाकाव्य के भीतर महाकाव्य' नाम दिया है। असल में ये उपाख्यान अपने आप में पूर्ण हैं और मानवीय मनोविकारों के बड़े सजीव तथा सरस चित्र हैं।

महाभारत को उज्ज्वल चरित्रों का बन कहा जा सकता है। यह कवि रूपी माली का यत्नपूर्वक सँवारा हुआ उद्यान नहीं है जिसके प्रत्येक लता-पुष्प-वृक्ष अपने सौन्दर्य के लिए बाहरी सहायता की अपेक्षा रखते हैं; बल्कि यह अपने आपकी जीवन-शक्ति से परिपूर्ण वनस्पतियों और लताओं का अयत्नपरिवर्द्धित विशाल वन है जो अपनी उपमा आप ही है। मूल कथानक में जितने भी चरित्र हैं वे अपने आप में ही पूर्ण हैं भीष्म जैसा तेजस्वी और ज्ञानी, कर्ण जैसा गम्भीर और वदान्य, द्रोण जैसा योद्धा, बलराम जैसा फक्कड़, कुन्ती और द्रौपदी जैसी तेजोदृप्त नारियाँ, गान्धारी जैसी पतिपरायणा, श्रीकृष्ण जैसा उपस्थित बुद्धि और गम्भीर तत्वदर्शी, युधिष्ठिर जैसा सत्य-परायण, भीम जैसा मस्त मौला, अर्जुन जैसा वीर और विदुर जैसा नीतिज्ञ चरित्र अन्यत्र दुर्लभ है। मूल कथानक को छोड़ दिया जाए, तो भी महाभारत में वर्णित नल और दमयन्ती, सावित्री और सत्यवान, कच और देवयानी, शर्मिष्ठा और चित्रांगदा आदि चरित्र संसार के साहित्य में बेजोड़ हैं।

महाभारत का शायद ही कोई उत्तम चरित्र महलों के भीतर पल कर चमका हो। सब के सब एक तूफ़ान के भीतर से गुज़रे हैं। अपना रास्ता उन्होंने स्वयं बनाया है और अपनी रची हुई विपत्ति की चिता में वे हँसते-हँसते कूद गए हैं। महाभारत का अदना से अदना चरित्र डरना नहीं जानता। किसी के चेहरे पर कभी शिकन नहीं पड़ने पाती है। पाठक महाभारत पढ़ते समय एक जादू भरे वीरत्व के अरण्य

में प्रवेश करता है जहाँ पर पद-पद पर विपत्ति है, पर भय नहीं है; जहाँ जीवन की चेष्टाएँ बार-बार असफलता की चट्टान पर टकराकर चूर-चूर हो जाती हैं, पर चेष्टा करनेवाला हतोत्साह नहीं होता; जहाँ गलती करनेवाला अपनी गलती पर गर्व करता है, प्रेम करनेवाला अपने प्रेम पर अभिमान करता है और घृणा करनेवाला अपनी घृणा का खुल कर प्रदर्शन करता है। वहाँ सरलता है, दर्प है, तेज है, वीर्य है महाभारत की नारी अपने नारीत्व पर गर्व करती है, पुरुष इस अभिमान की रक्षा के लिए अपने को मृत्यु के हाथ सौंप देता है। प्राचीन भारत का, उसके समस्त दोष-गुणों के साथ, ऐसा सुन्दर और सच्चा निदर्शन दूसरा नहीं।

रसात्मक साहित्य के प्रेरणा देने वाले इन दो महान् ग्रंथों के अतिरिक्त कुछ और भी साक्ष्य मिलते हैं जिनसे इस प्रकार के साहित्य का प्रचुर मात्रा में लिखा जाना सिद्ध होता है। दुर्भाग्यवश वे ग्रंथ अब उपलब्ध नहीं हैं। कहा जाता है कि महान वैयाकरण पाणिनि ने 'जाम्ब-वती-विजय' नाम का एक सर्ग-बद्ध काव्य लिखा था। उस काव्य के कुछ श्लोक परवर्ती सुभाषित संग्रहों में मिल जाते हैं। एक और काव्य 'पाताल विजय' भी पाणिनि-लिखित कहा जाता है। विद्वान् लोग इन दोनों को प्रसिद्ध पाणिनि का लिखा मानने में संकोच करते हैं। 'पाताल विजय' के एक पक्ष में व्याकरण दोष है जो पाणिनि सम्मत प्रयोग की दृष्टि से अशुद्ध है। परन्तु ये ग्रंथ अष्टाध्यायी के लेखक पाणिनि द्वारा लिखे गए हों या किसी अन्य पाणिनि के द्वारा। पतंजलि के महाभाष्य में प्रसंग-क्रम से ऐसी बातें आई हैं जो अलंकृत रसात्मक काव्य के अस्तित्व का संकेत देती हैं। कई उद्धृत रचनाएँ निस्संदेह अलंकृत काव्य जाति की हैं। महाभाष्य से पौराणिक, रसात्मक, अलंकृत सूक्ति साहित्य के अस्तित्व का निश्चित प्रमाण मिलता है। महाभाष्यसन् ईसवी से पूर्व की दूसरी शदी में लिखा गया था। इसी प्रकार पिंगल छंदःसूत्र से भी अलंकृत काव्य की सत्ता अनुमित होती है। महाक्षत्रप रुद्रदामा ने

सन् १५०–१५२ में गिरनार में जो अभिलेख खुदवाया था उससे तो सिर्फ अलंकृत पद्य और अलंकृत गद्य-शैली का नमूना ही नहीं मिलता अच्छे-खासे अलंकार-शास्त्र के अस्तित्व का भी प्रमाण मिलता है। इस अभिलेख के आस-ही-पास गिरनार का अभिलेख प्राकृत में सिरिपुलुमाथि ने लिखवाया था जो प्राकृत में इसी प्रकार की काव्य शैली की सूचना तो देता ही है, संस्कृत में इसके अस्तित्व का संकेत भी देता है। कुछ विद्वान् तो यह भी कहते हैं कि मूलतः यह संस्कृत में लिखा गया था, बाद में प्राकृत में रूपान्तरित किया गया। कामसूत्र के अध्ययन से भी सरसकाव्यों के वातावरण का पता चलता है। इन तथा अन्य अनेक प्राचीन स्रोतों के अध्ययन से निश्चित जान पड़ता है कि अलंकृत कविता आज से हजारों वर्ष पहले आरम्भ हुई थी और सहृदयों की प्रिय बन चुकी थी। रामायण जैसी महान् आदर्श संस्थापिनी कविता के सामने वे टिकीं नहीं, परन्तु उनके अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

रसात्मक और अलंकृत साहित्य की दीर्घ परम्परा की चरम परिणति कालिदास के काव्यों में हुई। भाव, भाषा, छंद, अलंकरण सब दृष्टियों से कालिदास इतने श्रेष्ठ हैं कि उनके पूर्व की रचनाओं को लोग भूल ही गए। परन्तु कालिदास की कविता एकाएक धरती फोड़ कर नहीं पैदा हुई थी। वह एक विशाल और महान् परम्परा की देन है। कालिदास सौन्दर्य के कवि हैं पर यह सौन्दर्य ऊपरी ही नहीं है। वह महान् आदर्शों और गम्भीर आध्यात्मिक चेतना से महनीय बन गया है। भारतवर्ष की संस्कृति कालिदास की लेखनी से अत्यन्त महिमाशालिनी और सौन्दर्य मंडित होकर प्रकट हुई। यह खेद की बात है कि अपने इतने बड़े कवि के जीवन के बारे में कुछ किम्वदंतियों के सिवा हम कुछ नहीं जानते। परम्परा से वे विक्रम संवत् के प्रवर्त्तक महाराजा विक्रमादित्य (५७ ई० पू०) के सभा कवि माने जाते हैं पर आधुनिक विद्वान् उनका समय गुप्त सम्राटों के काल में मानते हैं। कालिदास के शाकुन्तल नाटक तथा मेघदूत, कुमारसम्भव और रघुवंश काव्य ने संसार के

सहृदय विद्वानों को मुग्ध किया है।-संसार के मनीषी इन रचनाओं की प्रशंसा करते नहीं अघाते। ऊपर गिनाए हुए ग्रंथों के अतिरिक्त उनके दो और नाटक—मालविकाग्निमित्र और विक्रमोर्वशीय तथा एक काव्य ऋतुसंहार मिले हैं।

कालिदास ने वैदिक परम्परा के समग्र साहित्य का बहुत निपुण अध्ययन किया होगा। उन्होंने देश के हर हिस्से को देखा होगा। उपनिषदों रामायण और महाभारत के आदर्शों को उन्होंने सजीव सुन्दर रूप दिया है। संगीत, नाट्य, नृत्य, मूर्ति, चित्र, नीति, धर्म सबका इतना सुन्दर समन्वित रूप अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। परवर्ती संस्कृत काव्यों में जो आयाससाध्य अलंकरण-प्रवृत्ति है वह कालिदास में नहीं है। उनकी शैली सहज-सरल है, भाषा सरल है और अलंकार अत्यन्त सिद्ध हैं। सदा से वे कविकुल चूड़ामणि माने जाते रहे हैं। हमारे देश के कवियों ने उन्हें सरस्वती का दुलारा माना है जो बिलकुल सही है।

सौभाग्यवश महाराजा कनिष्क (ईसवी प्रथम शती) के समसामयिक; और कदाचित् गुरु, महाकवि अश्वघोष की रचनाओं का उद्धार हो रहा है। जन्म से वे ब्राह्मण थे। वे पहले सर्वास्तिवादी बौद्ध हुए और बाद में महायान संप्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य हुए। वे साकेत के निवासी थे। उनकी माता का नाम सुवर्णाक्षी था। उनकी कई रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। 'वज्रसूची', जो बाद में, 'वज्रसूचिकोपनिषद्' के रूप में मान्य हुई उन्हीं की रचना कही जाती है जो संदेहास्पद है। एक 'गण्डीस्त्रोत्रगाथा' नाम की पुस्तक मिली है जो उनके छन्दोनैपुण्य की परिचायिका है। उनकी लिखी कही जानेवाली पुस्तक 'सूत्रालंकार' या 'कल्पना मण्डीतिका' संस्कृत में खंडित दशा में ही प्राप्त हुई है पर ४०५ ई० में किए गए उसके चीनी अनुवाद से उसकी विषय वस्तु का ज्ञान हो जाता है। ह्यूवर नामक विद्वान् ने इस की भाषान्तर का अनुवाद फ्रांसीसी भाषा में किया है। परन्तु अश्वघोष के कविरूप को प्रकट करनेवाले दो काव्य हैं; (१) बुद्ध चरित और (२) सौन्दरानन्द। मूल संस्कृत

में 'बुद्धचरित' के सत्रह सर्ग मिलते हैं। इनमें भी कुछ थोड़े से अपवादों को छोड़कर केवल तेरह सर्ग ही वास्तव में अश्वघोष-रचित हैं। चीनी और तिब्बती अनुवाद में अट्ठारह सर्ग मिलते हैं। विद्वानों नें उन अनुवादों के आधार पर ग्रंथ के पूर्ण रूप के उद्धार का प्रयत्न किया है। बुद्ध चरित, जैसा कि उसके नाम से ही प्रकट है भगवान् बुद्ध का चरित है। सभी सहृदयों ने स्वीकार किया है कि यह उत्कृष्ट काव्य है। कथानकों की योजना, घटनाओं का चयन, चरित्रों का चित्रण और उपयुक्त भाव व्यंजक दृश्यों के सम्यक् सन्निवेश से कवि अधिक से अधिक प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ हुआ है। दर्शन धर्म और इतिहास-पुराण का ज्ञान, काव्य की प्रभावोत्पादक शैली पर अधिकार और अभीप्सित उद्देश्य के प्रति पाठक को आकृष्ट करने के कौशल ने अश्वघोष को सब समय के मान्य कलाकार के रूप में प्रतिष्ठित किया है। उनका 'सौन्दरानन्द' भी उत्तम काव्य है। बुद्ध के सौतेले भाई नंद अपनी अनिंद्य लावण्यवती पत्नी सुन्दरी के प्रेमपाश में बंधे थे। इसी अनिच्छुकभाई को निर्वाण-मार्ग में ले आने का बुद्ध ने सफल प्रयत्न किया था। सौंदरानन्द में १८ सर्गों में यही कहानी कही गई है। ये दोनों काव्य गुप्तकाल के पूर्व की अलंकृत काव्य शैली के अत्यन्त उत्कृष्ट निदर्शन हैं। काव्य शैली की प्रौढ़ता के अध्ययन की दृष्टि से बौद्धों का 'अवदान'-साहित्य भी महत्त्वपूर्ण है 'अवदान-शतक', 'दिव्यावदान' आदि ग्रंथ काव्यात्मक आख्यान शैली में हैं। इनमें कई चौथी शताब्दी में चीनी भाषा में अनुवादित हुए थे बौद्ध पंडितों ने संस्कृत में अनेक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक ग्रंथ लिखे थे परन्तु काव्य की दृष्टि से उनकी उपलब्ध रचनाओं का काफी महत्त्व है।

गुप्त सम्राटों के समय के कुछ काव्य-शैली के अभिलेख भी प्राप्त हुए हैं जो काव्यशैली का रोचक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं इनमें एक हरिषेण (३४५ ई०) की रचना है और दूसरा वत्सभट्टि (४७३–४ ई०) की। दोनों उत्कृष्ट काव्य शैली में लिखे गए हैं।

कालिदास के बाद संस्कृत के अनेक कवियों के ग्रंथ उपलब्ध होते हैं जिनमें भारवि, भट्टि, कुमारदास और माघ काफी प्रसिद्ध हैं। भारवि (सातवीं शती का पूर्वार्द्ध) का किरातार्जुनीय काव्य महाभारत की कथा पर आश्रित है। इसके अर्थ-गौरव-गुण का पंडितों में बहुत आदर है। कुमारदास भी लगभग इसी काल के कवि हैं। उनका 'जानकी हरण' कालिदास की शैली से प्रभावित उत्कृष्ट काव्य है। भट्टि भी सातवीं शताब्दी के ही कवि हैं। उनका 'रावणवध' नामक काव्य 'भट्टिकाव्य' नाम से अधिक प्रसिद्ध है। रामकथा के साथ व्याकरण की शिक्षा देना भट्टि का उद्देश्य था। अपने उद्देश्य में वे सफल हुए हैं। लेकिन इसी कारण कविता क्लिष्ट भी हो गई है। कुछ विद्वानों का विचार है कि सुदूरपूर्व में जो रामकथा प्रचारित हुई उसका मूल आधार बाल्मीकि रामायण की अपेक्षा भट्टि काव्य अधिक है। माघ सातवीं शती के उत्तरार्द्ध के कवि हैं। इनका 'शिशुपालवध' भारवि के 'किरातार्जुनीय' की भाँति ही प्रसिद्ध और लोकप्रिय है। जहाँ भारवि के काव्य में अर्थ-गाम्भीर्य और प्रतिपादन की गरिमा है, वहाँ माघ में कल्पना की उच्छलता और माधुर्य और सौंदर्य का निपुण चित्रण है। अत्यधिक अलंकरण और पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति दोनों में है। माघ, भारवि, भट्टि आदि के समान ही बारहवीं शती के कवि श्री हर्ष बड़े कवियों में गिने जाते हैं। पाण्डित्य, कल्पना, भावाभिव्यक्ति आदि की दृष्टि से इनका 'नैषधीय चरित' बहुत उत्तम काव्य है। इन बड़े कवियों के अतिरिक्त मध्यम कोटि के अनेक कवियों की रचनाएँ संस्कृत में उपलब्ध हैं। बारहवीं शताब्दी के कश्मीरी कवि कल्हण का ऐतिहासिक काव्य 'राजतरंगिणी' इनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं।

संस्कृत साहित्य में बहुत प्राचीन काल से ही एक ही कवि द्वारा भिन्न-भिन्न, परस्पर असंबद्ध भावों को चित्रित करनेवाली मुक्तक कविताओं के संग्रह की परम्परा चली आ रही है। इन संग्रहों को पद्यों

की संख्या के अनुसार 'शतक', 'पंचाशिका', 'सप्तशती', आदि कहने की प्रथा है। ऐसे मुक्तक संग्रहों में भर्तृहरि के तीन शतक (शृंगार०, वैराग्य० और नीति०) बहुत लोकप्रिय हैं। भर्तृहरि राजा थे। उनका अनुभव विशाल था और कहने का ढंग प्रभावशाली। व्याकरण के प्रसिद्ध आचार्य ('वाक्यपदीय' के लेखक) भर्तृहरि से कदाचित् ये अभिन्न थे। ईत्सिंग नामक चीनी यात्री ने लिखा है कि उसके लिखने के समय से चालीस वर्ष पहले (अर्थात् सन् ६५१ ई० में) भर्तृहरि-नामक वैयाकरण की मृत्यु हुई थी। ईत्सिंग ने उस वैयाकरण के बारे में लिखा है कि उसका मन गृहस्थ और वैराग्य दोनों की ओर बारी-बारी से झुकता था। इससे भर्तृहरि के बारे में प्राप्त अनुश्रुतियों का समर्थन होता है और तीन प्रकार के शतकों का कर्त्ता होना अनुमानित होता है। इसी आधार पर विद्वान् लोग भर्तृहरि का समय सातवीं शताब्दी में रखते हैं। कुछ तो इन्हें भट्टि से अभिन्न ही कहते हैं क्योंकि 'भर्तृ' शब्द प्राकृत में 'भट्टि' बन सकता है। अमरुक का 'अमरुक शतक' शृंगार रस का बहुत ही मान्य काव्य है। अमरुक प्रेम को बहुत ऊँचे धरातल पर रखते हैं, वह दंपतियों के कलह, मान, ईर्ष्या, असूया सब अवस्थाओं में बना रहता है। अमरुक के इस काव्य ने परवर्ती शृंगारी काव्य को बहुत प्रेरणा दी है। ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवि बिहारी को भी इस काव्य ने प्रभावित किया था। अनुमान से अमरुक का समय भी सातवीं शताब्दी ही मान लिया गया है। ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी के 'विक्रमांकदेव चरित' नामक ऐतिहासिक काव्य के रचयिता बिल्हण की 'चौरपंचाशिका' भी सरस रचना है। परन्तु बारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध कवि जयदेव के 'गीत गोविन्द' की सरसता का दावा कम रचनाएँ कर सकती हैं। छंद, संगीत, भावावेश और मधुर प्रेमोन्माद का यह काव्य सब प्रकार से अद्भुत है।

जिस प्रकार महाभारत और रामायण ने भारतीय साहित्य को प्रभावित किया है उसी प्रकार एक और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसने विशुद्ध

लौकिक रस के साहित्य के उपादान जुटाने में कवियों की मदद की है। यह है गुणाढ्य की वृहत्कथा। कहा जाता है कि गुणाढ्य नामक पंडित ने संस्कृत लिखने-बोलने से विरत रहने की अपनी प्रतिज्ञा के कारण, पैशाची भाषा में इसे लिखा था। पैशाची कहाँ की भाषा थी, इस विषय में पंडितों में मतभेद है। कुछ लोग इसे गिलगित, चित्राल और दर्दिस्तान की भाषा मानते हैं, कुछ विंध्य भूमि की। यह ग्रंथ दण्डी, बाण आदि को ज्ञात था पर दुर्भाग्यवश अब नहीं मिलता। परवर्ती काल के विद्वानों ने इसकी कहानियों को अपने-अपने ढंग से संकलित किया था। इस कारण उनमें अन्तर भी पाया जाता है। तीन ग्रंथ मिलते हैं जिनमें इस कथा को नये सिरे से कहने का प्रयत्न है। एक नेपाल में प्राप्त प्रति बुधस्वामी का 'वृहत्कथा-श्लोक-संग्रह' है। दूसरा क्षेमेंद्र नामक प्रसिद्ध कश्मीरी कवि का ग्रंथ 'वृहत्कथा मंजरी' है और तीसरा सोमदेव नामक एक अन्य कश्मीरी कवि का 'कथा सरित्सागर' है। तीनों में थोड़ा-थोड़ा अन्तर है। 'कथा सरित्सागर' अधिक व्यवस्थित माना जाता है। इन तीन ग्रंथों से 'वृहत्कथा' के मूलरूप का अनुमान होता है। इसमें नरवाहन-दत्त नामक राजकुमार की प्रेम कहानियों के रूप में अनेक कहानियाँ दी हुई हैं जो परवर्ती काल में नाटक, गद्यकाव्य और लौकिक रस के काव्यों के लिए कथा-वस्तु जुटाने में सहायक बनी हैं। वृहत्कथा का निश्चित रचना-काल नहीं मालूम, पर वह काफी पुरानी होगी, इसमें सन्देह नहीं। गुणाढ्य पंडित सातवाहन के सभापंडित बताए गए हैं इससे अनुमान किया जा सकता है कि कथा सन् ईसवी के कुछ इधर-उधर लिखी गई होगी। महाक्षत्रप रुद्रदामा के गिरनार वाले शिलालेख से ही अलंकृत गद्यशैली का पता चलता है। सुबंधु, दण्डी और बाणभट्ट उस अलंकृत गद्यशैली के महान् कवि हुए हैं जिसे 'कथा' नाम दिया गया है। बाणभट्ट (७वीं शताब्दी) ने तो अपनी कादंबरी नामक 'कथा' में इस शैली को चरम सीमा पर पहुँचा दिया है। 'कथा' से मिलता-

जुलता एक काव्य रूप था 'आख्यायिका' । वाणभट्ट का 'हर्षचरित' आख्यायिका है ।

गद्य में कई प्रकार की कथाएँ भी लिखी गई थीं । पंचतंत्र नीति-उपदेश के उद्देश्य से लिखी गई कथा है । जिसने संसार के कहानी साहित्य को वहुत प्रभावित किया है । हम ऊपर उसकी चर्चा कर आए हैं । मनो-रंजन के लिए लिखी हुई कहानियों का साहित्य भी उल्लेख योग्य है । 'वेताल पंचविंशति', 'सिंहासनद्वात्रिंशतिका', 'शुक सप्तप्ति' आदि ऐसी ही कथाएँ हैं । जैन लेखकों ने अनेक प्रबंधकों की रचना की हैजो अनेक ऐतिहासिक तथ्यों को स्पष्ट करते हैं । मेरुतुंग का प्रवंध चिन्तामणि, राजशेखर का प्रवंध कोश आदि प्रसिद्ध ही हैं ।

संस्कृत में सूक्तियों और सुभाषितों का वहुत महत्त्वपूर्ण भाण्डार है । जीवन के विभिन्न अवसरों के अनुभव पर उचित परामर्श देने वाली सूक्तियों से तो संस्कृत वाङ्मय परिपूर्ण है ।

६. संस्कृत में काव्य-शास्त्र सम्बन्धी ग्रंथ

संस्कृत में काव्य-शास्त्रीय ग्रंथों की भी दीर्घ परम्परा रही है, जिनमें विभिन्न दृष्टिकोणों से काव्य एवं कला सम्वन्धी अत्यन्त व्यापक एवं प्रौढ़ सिद्धान्तों का प्रतिपादन मिलता है । इन्हें मुख्यत: ६ वर्गों या सम्प्रदायों के अन्तर्गत विभाजित किया जाता है—रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य । रस सम्प्रदाय का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रंथ भरतमुनि का नाट्य शास्त्र' (रचनाकाल अनुमानतः प्रथम शती) है, इसमें आचार्य ने अपने कुछ पूर्ववर्ती आचार्यों का भी नामोल्लेख किया है, जिससे अनुमान किया जा सकता है कि इस सम्प्रदाय की परम्परा आचार्य भरत से भी पुरानी रही होगी । आचार्य भरत ने काव्य का मूल लक्ष्य सामाजिक को आनन्द या 'रस' प्रदान करना मानते हुए उन सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक तत्वों का अनुसंधान किया है जिनके संयोग के कारण

काव्य में रस प्रदान करने की क्षमता आती है। उनके द्वारा प्रतिपादित तत्त्व विभाव, अनुभाव, संचारी भाव, स्थायीभाव आदि आधुनिक मनोविज्ञान के भी बहुत कुछ अनुकूल हैं। भरत के अनन्तर भट्ट लोल्लट (७वीं-८वीं शती), शंकुक (८वीं-९वीं शती), भट्टनायक (८-वीं-९वीं शती), अभिनवगुप्त (अभिनव भारती : ११वीं शती), धनंजय (दश-रूपक : ११वीं शती), भोजराज (शृंगार-प्रकाश, ११वीं शती), प्रभृति आचार्यों ने रस-सिद्धान्त के विभिन्न पक्षों की सूक्ष्म व्याख्या एवं विवेचना करके इसे और अधिक स्पष्ट एवं व्यापक रूप प्रदान किया है। विशेषतः काव्यानुभूति की प्रक्रिया का जैसा विश्लेपण इनके द्वारा हुआ है, वह इनकी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिकता का परिचायक है।

अलंकार-सम्प्रदाय के उन्नायकों में भामह (काव्यालंकार ६ठीं शती), दंडी (काव्यादर्श : ७वीं शती). उद्भट (काव्यालंकार सार-संग्रह : ९ वीं शती), रुद्रट (काव्यालंकार : ९ वीं शती) आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन्होंने ('अलंकार' को ही काव्य का मूल तत्त्व घोषित करते हुए उसके विभिन्न भेदोपभेदों का वर्गीकरण, विवेचन एवं विश्लेषण अत्यन्त विस्तार से किया है। दूसरी ओर वामन (काव्यालंकारसूत्रवृत्ति : ९वीं शती), आनन्दवर्द्धन (ध्वन्या-लोक : ९वीं शती) एवं कुन्तक (वक्रोक्तिजीवितम् : ११ वीं शती) ने क्रमशः रीति. ध्वनि एवं वक्रोक्ति को काव्यात्मा का गौरव प्रदान किया। आगे चल कर क्षेमेन्द्र (औचित्य विचार चर्चा: ११वीं शती) ने भी एक नये संप्रदाय—औचित्य की स्थापना की। इस प्रकार विभिन्न सम्प्रदायों के अन्तर्गत काव्य के विभिन्न अवयवों एवं तत्त्वों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में विश्लेषण हुआ। यद्यपि प्रारम्भ में स्वतन्त्र-सम्प्रदाय स्थापित करने की प्रतिस्पर्द्धा के कारण खंडन-मंडन का अधिक जोर रहा किन्तु उत्तरकालीन विद्वानों में समन्वयात्मकता की प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर होती है। राजशेखर (काव्य-मीमांसा : ९वीं शती), मम्मट (काव्य

प्रकाश : ११वीं शती), विश्वनाथ (साहित्य दर्पण: १४वीं शती), जगन्नाथ (रस गंगाधर : १७ वीं शती) प्रभृति विद्वानों ने अपने ग्रंथों में रस, अलंकार, ध्वनि आदि के समन्वय का सुन्दर एवं सफल प्रयास किया है। इनके अतिरिक्त और भी अनेक ऐसे विद्वान् हुए हैं जिन्होंने संस्कृत की काव्य-शास्त्रीय परम्परा को आगे बढ़ाने में योग दिया है; जसे महिम भट्ट, राजानक रुय्यक, अप्पय दीक्षित आदि। अस्तु, लगभग दो सहस्त्राब्दियों की इस दीर्घ परम्परा में कवि-कर्म, काव्य-तत्त्वों एवं काव्यानुभूति का संस्कृत के आचार्यों द्वारा जैसा सूक्ष्म एवं प्रौढ़ विवेचन-विश्लेषण हुआ है वह किसी भी साहित्य के लिए अत्यन्त गौरव की वस्तु है इसमें कोई सन्देह नहीं।

७. दर्शन

भारतीय दर्शनों का साहित्य बहुत अधिक समृद्ध है। हिन्दू दर्शन अपना मूल वेद में खोजते हैं। जैन और बौद्ध दर्शन भी, जो अपने को वैदिक सम्प्रदाय का प्रतिद्वन्द्वी समझते हैं, इनसे प्रभावित हुए थे। इसमें सन्देह नहीं कि जिस रूप में आज हम भारतीय दर्शन को पाते हैं उसकी प्रेरणा वेदों से प्राप्त हुई थी। परम्परा से छः मुख्य दर्शन माने जाते हैं, यद्यपि चौदहवीं शताब्दी में मध्वाचार्य ने सोलह दर्शनों का उल्लेख किया था। छः मुख्य दर्शनों के नाम इस प्रकार हैं—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा (वेदान्त)। ये दर्शन सूत्र-रूप में लिखे गए थे और इनको समझने के लिए भाष्यों की बड़ी जरूरत थी। सबसे पुराना भाष्य मीमांसा पर शबर भाष्य है। शबर के ही सम्प्रदाय में सुप्रसिद्ध कुमारिलभट्ट हुए। इसके बाद न्याय का वात्स्यायन भाष्य है। आगे चलकर न्याय और वैशेषिक एक में मिल गए और नव्यन्याय नाम से उत्तरकाल में एक प्रबल दार्शनिक साहित्य की रचना हुई। योगदर्शन के भाष्यकार व्यास का समय

म० म० हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार पाँचवीं सदी होना चाहिए। सांख्य के मूलसूत्र और भाष्य शायद खो गए हैं। सांख्यसूत्र नाम से प्रचलित ग्रंथ बाद का कहा जाता है। इस दर्शन पर सबसे प्रामाणिक ग्रंथ ईश्वर-कृष्णाचार्य की सांख्यकारिका है जो शायद सन् ईसवी की पाँचवीं शताब्दी (सन् ४७९) की लिखी है। कुछ यूरोपीय पण्डितों का विश्वास है कि जैन और बौद्ध दर्शन की मूल प्रेरणा सांख्य-दर्शन से प्राप्त हुई है जो भारतवर्ष का अत्यन्त प्राचीन मत है। सांख्यकारिका पर गौड़पाद और वाचस्पति मिश्र की टीकाएँ प्रसिद्ध हैं।

वेदान्तसूत्र के सबसे बड़े, पुराने भाष्यकार, अद्वैतवाद के प्रवर्तक शंकराचार्य हैं। वेदान्तसूत्र के प्रामाणिक यूरोपियन पण्डित डायसन की राय में शंकर संसार के तीन महाबुद्धिशालियों में से थे। ये तीन हैं— शंकर, प्लेटो और काण्ट। शंकराचार्य के मत पर बहुत बड़ा साहित्य रचित हुआ है। शंकर के सिवा वेदान्तसूत्रों के अनेक भाष्यकार हुए हैं। इनमें रामानुज, मध्व, विष्णु स्वामी, वल्लभ, बलदेव विद्याभूषण आदि प्रधान हैं। इनमें से प्रत्येक आचार्य के मत की पुस्तकों का अपना-अपना विशाल संग्रह है। म० म० हरप्रसाद शास्त्री का अनुमान है कि प्रत्येक सम्प्रदाय की पुस्तकों की अलग-अलग संख्या ५०० से कम न होगी।

इन आस्तिक दर्शनों के सिवा ऐसे दर्शन भी थे जिन्हें नास्तिक कहते थे। ये दर्शन न तो वेदों में ही विश्वास करते थे न आत्मा में ही। चार्वाक इनमें प्रसिद्ध हैं, पर इनके ग्रंथ लुप्त हो गए हैं। इसके सिवा बौद्धों और जैनों का विशाल साहित्य है। जैन न्याय का भारतीय दर्शन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस दर्शन की उत्तम पुस्तकें दूसरी से छठीं शताब्दी तक लिखी गई थीं। हालाँकि जिन सिद्धान्तों से इन ग्रंथों को प्रेरणा मिली थी वे पुराने थे। बारहवीं सदी में हेमचन्द्र जैन दर्शन के प्रख्यात आचार्य हुए। अपने समय में भारतवर्ष में वे महान् प्रतिभाशाली दार्शनिक थे।

किसी समय संस्कृत में लिखे गए बौद्ध-दर्शन के अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ थे। दुर्भाग्यवश उनमें से अधिकतर अब लुप्त हो गए फिर भी यूरोपीय और देशी विद्वानों के परिश्रम से अनेक ग्रंथों का उद्धार हुआ है। तिब्बती और चीनी भाषाओं में इन ग्रंथों के अनुवाद मिलते हैं। उनमें से कुछ को संस्कृत में पुनः रूपान्तरित करने के प्रयास भी हुए हैं। चीन में इन अनुवादों का ताँता ईसवी सन् के आरम्भ होने के कुछ ही बाद शुरू हो गया था। चीन से जापान, कोरिया और अन्य एशियाई देशों में ये ग्रथ गए थे। तिब्बत में बौद्ध धर्म ७वीं शताब्दी में पहुँचा था। इस विषय में कुछ चर्चा ऊपर की जा चुकी है। विद्वानों के परिश्रम से महावस्तु, ललित विस्तर, अवदानों का साहित्य, महायान सूत्रों का साहित्य, प्रज्ञापारमिताएँ, अनेक स्त्रोत्र, धारणी आदि के ग्रंथों का मूल रूप में उद्धार हो गया है। अश्वघोष के काव्यों और नाटकों के उद्धार की चर्चा ऊपर हो ही चुकी है। विद्वानों के लिए इस ओर काम करने का बहुत बड़ा क्षेत्र है। तिब्बती अनुवाद तो बहुत अधिक आक्षरिक हैं। उन्हें संस्कृत में पुनः रूपान्तरित करना अपेक्षाकृत आसान है। नागार्जुन, आर्यदेव, वसुवन्धु, असंग, शान्तिदेव आदि आचार्यों के ग्रंथों की अब कुछ-कुछ जानकारी हो गई है पर अभी बहुत बड़ा भण्डार, चीनी, तिब्बती आदि भाषाओं में है। कई ग्रंथों के तो तीन-तीन, चार-चार बार अनुवाद हुए हैं। एक ग्रंथ तो बारह बार अनुवादित हुआ। चीनी यात्री हुएन्त्सांग के विवरणों से पता चलता है कि वे महायान सूत्रों के २२४ ग्रंथ, अभिधर्म के १९२ ग्रंथ, स्थविर सम्प्रदायों के सूत्र, विनय और अभिधर्मजातीय १४ ग्रंथ, महासांखिकों के इसी प्रकार के १५ ग्रंथ, महीशास्त्र के २२ ग्रंथ, कश्यपीय सम्प्रदाय के १७ ग्रंथ और धर्मगुप्त सम्प्रदाय के ऐसे ही ४२ ग्रंथ साथ ले गए थे। इससे इस विशाल साहित्य का कुछ आभास मिलता है। यद्यपि अब इन ग्रंथों में से अधिकांश प्राप्त नहीं हो रहे हैं पर हम विदेशी विद्वानों के सदा आभारी रहेंगे जिन्होंने इन ग्रंथों के अनुवाद सुरक्षित रखे हैं।

८. पुराण और उपपुराण

पुराण शब्द का अर्थ है पुराना इसीलिए पुराण-ग्रंथों से मतलब उन ग्रंथों से है जिनमें प्राचीन आख्यायिकाएँ संगृहीत हों। ब्राह्मणों, उपनिषदों और बौद्ध-ग्रंथों में यह शब्द कभी 'इतिहास' शब्द के साथ आया है और कभी इतिहास के अर्थ में। कौटिल्य के अर्थशास्त्र (१–५) के अनुसार इतिहास में पुराण और इतिवृत्त दोनों ही शामिल हैं। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि पुराण इतिवृत्त से भिन्न वस्तु है। जो हो, पुराणों ने उत्तरकालीन हिन्दू धर्म को एकदम नया रूप दे दिया है और सच पूछा जाए तो सन् ईसवी के बाद हिन्दू धर्म धीरे-धीरे पौराणिक होते-होते अन्त में सम्पूर्ण रूप से पौराणिक हो गया। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि भारतीय साहित्य में 'पुराण-साहित्य' कोई नई चीज़ है। गौतम धर्म सूत्र (११–१९) में पुराण साहित्य की की स्पष्ट चर्चा है और आपस्तम्बीय धर्म सूत्र में तो पुराणों से कई श्लोक उद्धृत किए गए हैं। एक ऐसा ही श्लोक भविष्य पुराण से उद्‌धृत है। इसलिए भविष्य पुराण जैसे सर्वजन स्वीकृत आधुनिक पुराण भी कितने प्राचीन हैं यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। वर्तमान भविष्य-पुराण में यह श्लोक नहीं मिलता। पर उससे मिलता-जुलता श्लोक खोज निकालना मुश्किल नहीं है। यह तो निर्विवाद है कि कम से कम चौथी-पाँचवीं शताब्दी ई० पू० ये धर्मसूत्र बन गए। इसलिए इस काल से पहले भी पुराण जातीय ग्रंथ रहे होंगे यद्यपि उनका आकार-प्रकार हू-बहू वही नहीं होगा जो आज के पुराणों का है। पुराण ग्रंथ काफी लोकप्रिय रहे हैं इसलिए उनमें परिवर्तन-परिवर्द्धन भी होते रहे हैं। परन्तु इसीलिए पुराण-साहित्य की प्राचीनता पर सन्देह नहीं किया जा सकता। विद्वानों का अनुमान है कि इन पुराणों में वैदिक काल के पूर्ववर्ती काल का इतिहास भी पाया जाता है। महाभारत बनने के पहले पुराण जातीय ग्रंथ वर्त्तमान थे। इस विषय में अब कोई सन्देह

नहीं करता। एक समय ऐसा गया है जब इन ग्रंथों को अप्रामाणिक कह कर उड़ाने की चेष्टा की गई थी। परन्तु अब इतिहास-अनुरागी उन्हें बहुमूल्य मानते हैं। उनमें की बेकार बातें बाद के पण्डितों की कृति समझी जाती है। असल में प्रायः डेढ़ हज़ार वर्ष पहले से लेकर आज तक पुराण अविकसित बुद्धि के लोगों के हाथों में रहे हैं और फलतः उनमें इतनी बेहूदी बातें आ घुसी हैं कि पुराणों का मूलरूप खोज निकालना बड़ा ही दुष्कर कार्य हो गया है। पुराणों के लक्षणों में बताया गया है कि उनमें सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित इन पाँच बातों का वर्णन होना चाहिए। पुराणों की वंशावलियाँ और उनकी कथाएँ निश्चय ही बहुत पुरानी हैं। पुराणों के कर्त्ता व्यासजी माने जाते हैं।

पुराण नाम के ग्रंथ बहुत हैं। पुराणों और उपपुराणों की संख्या सौ से ऊपर होगी। परन्तु सभी बड़े-बड़े पुराण अठारह पुराणों की चर्चा करते हैं। इनका क्रम सर्वदा एक-सा नहीं है और कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि एक सूची में एक का नाम है और दूसरी सूची में दूसरे का। परन्तु साधारणतः १८ पुराण प्रामाणिक बताए जाते हैं : ब्रह्म, पद्म, वैष्णव. शैव या वायवीय, भागवत, नारदीय, मार्कण्डेय, आग्नेय, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिङ्ग, वाराह, स्कन्द, वामन, कौर्म, मत्स्य, गरुड़, ब्रह्माण्ड।

एक मजेदार बात यह है कि यह सूची प्रायः सब पुराणों में दी हुई है। देखिए, विष्णु—३६, भागवत—१२—१३, पद्म—१—६२, वाराह—११२, मत्स्य—५३, अग्नि—२७२ इत्यादि)। अर्थात् प्रत्येक पुराण यह स्वीकार करता है कि उसकी रचना के पहले अन्यान्य पुराण बन चुके हैं। इन पुराणों के सिवा अठारह उप-पुराण बताए गए हैं। पर असल में इनकी संख्या और भी अधिक है। पौराणिक कथाओं के अनुसार ब्रह्मा ने सभी पुराणों को कल्पादि में पहले ही रचा था उनसे मुनियों ने सुना और सुन कर भिन्न-भिन्न कल्प में अलग-अलग संहिताएँ लिखीं। इस कल्प के द्वापर युग के अन्त में कलिकाल के अल्पज्ञ मनुष्यों के उपकारार्थ व्यासजी ने पुनः उन वचनों का संक्षेप करके

पुराण संहिताएँ लिखीं। विष्णुपुराण के अनुसार वेदव्यास ने आख्यान, उपाख्यान, गाथा, कल्पशुद्धि सहित पुराण-संहिताओं की रचना करके उन्हें सूत लोमहर्ष को समर्पित किया। लोमहर्ष के छः शिष्य थे—सुमति, अग्निवर्चा, मित्रायु, अकृतव्रण, शंखायन और सार्वणि। अन्तिम तीन शिष्यों में से प्रत्येक ने मूल संहिता का अवलम्बन करके अपनी एक-एक संहिता बनाई। इन्हीं चार संहिताओं पर से सभी पुराण बने हैं। इनमें सबसे आदि पुराण ब्रह्म पुराण हैं। इस कथा से मालूम होता है कि व्यासजी ने सब संहिताएँ नहीं लिखी थीं। उन्होंने किसी एक मूल संहिता को कथा अपने शिष्य को सुनाई थी। वहीं से शिष्य-प्रशिष्यों ने इन संहिताओं की अलग-अलग रचना की। वस्तुतः पुराणों की परीक्षा से इतना स्पष्ट ही है कि मूलरूप में से काफी पुराने हैं पर इसमें भी सन्देह नहीं रह जाता कि अपने वर्तमान रूप में ये अनेक लोगों की नाना उद्देश्यों से लिखी हुई कथाओं के संग्रह हैं।

ऊपर के छोटे दिग्दर्शन से इसके विस्तार, सार्वभौमिकता और गहराई का कुछ अंदाजा मिलता है।

: ४ :

संस्कृत वाङ्मय और भारतीय इतिहास की खोज

आधुनिक रीति से संस्कृत अध्ययन करने का एक यह भी फल हुआ है कि हमारा पुराना इतिहास बहुत हद तक तैयार किया जा सका है और अतीत काल के समाज-गठन, राजकीय संस्थाओं और देश सम्बन्धी अन्य प्रकार का ज्ञान प्राप्त हुआ है। थोड़े शब्दों में इनका दिग्दर्शन करा देना लाभदायक प्रतीत होता है।

हमारे देश के निवासी आर्य और द्राविड़

यह मान लिया गया है कि भारतवासी आरम्भ में अधिकतर दो जातियों के थे—एक आर्य, दूसरे द्राविड़। इनका ही वृत्तान्त हमारे देश का इतिहास है। उन्होंने अपनी कीर्तियाँ कदम-कदम पर छोड़ रखी हैं—और उनके नमूने सारे भारतवर्ष में उस आदिकाल के पत्थर के बने हथियारों से लेकर उच्चतम कोटि के दर्शनशास्त्र के ग्रंथों तक आज पाए जाते हैं। हजारों वर्षों की ये कथाएँ मानव जाति के विकास का इतिहास हैं। यह एक गलत धारणा है कि भारतवर्ष एक देश नहीं, बल्कि अनेक देशों क बना हुआ एक महादेश है; जिसमें एकता न है, न कभी थी और न कभी होगी। आज हम इस देश की चौहद्दी भी ठीक नहीं जानते, यद्यपि ईश्वर ने उत्तर में हिमालय, पश्चिमोत्तर और पूर्वोत्तर में पहाड़ों की श्रेणियाँ और बाकी सब तरफ समुद्र द्वारा इसकी हदबंदी कर दी है। द्राविड़ और आर्य चाहे एक दूसरे से झगड़े हों, पर वे एक दूसरे में इस प्रकार हिल-मिल गए कि उनका अलग अस्तित्व बहुत बातों में लुप्त हो गया। एक दूसरे में इतना बड़ा प्रभाव और इतनी गहरी छाप उन्होंने

डाली है कि बहुत बातों में उन आर्य सिद्धान्तों और आदर्शों को हम द्राविड़ लोगों में अधिक पाते हैं, जो आज के अपने को शुद्ध आर्य समझने-वाले लोगों में लुप्त अथवा बहुत कम अवश्य हो गए हैं। इस तरह बहुत चीज़ें द्राविड़ लोगों से लेकर आर्यों ने भी बिलकुल अपना ली हैं। भाषा पर भी इसका काफी असर पड़ा और फलस्वरूप आर्यभाषाओं पर द्राविड़ भाषाओं और द्राविड़ भाषाओं पर आर्य भाषा की अमिट छाप देखने में आती है। यहाँ पर यदि एक-एक के बारे में कहने का प्रयत्न किया जाय तो बहुत विस्तार हो जायगा। नमूने के तौर पर थोड़ी बातें कह देनी आवश्यक हैं। भाषा, व्याकरण और लिपि का जिक्र मैंने ऊपर किया है। यहाँ सामाजिक जीवन और राजनीतिक विषयों का थोड़ा जिक्र कर देना चाहता हूँ।

हमारा देश विशाल है। उसमें अनेक प्रकार के प्रदेश हैं—जहाँ हिमालय का बर्फ है, वहाँ राजपूताने और सिंध की मरुभूमि भी है और दक्षिण की गर्मी भी है। नदी तटों, पठारों और मैदानों में उर्वरा से उर्वरा जमीन भी है।

२. वैदिक काल

वैदिक तथा दूसरे साहित्य से जो बातें प्रतिपादित हुई हैं, उनसे पता चलता है कि हमारे पूर्वज आरम्भ में केवल घमते-फिरते शिकार और पशु-पालन से गुजर करने वाले थे। पर आहिस्ता-आहिस्ता वे पशु-पालक और कृषक हुए, विवाह और पितृमूलक परिवार की संस्था उनमें चली और राजतन्त्र भी विकसित हुआ। समाज का संघटन मजबूत होता गया। वैदिक समाज का संघटन कबीलों (tribes) के रूप में था। उन कबीलों को वे लोग जन कहते थे। एक जन की समूची जनता 'विश्' 'विशी' कहलाती थी। जन या विशः का ही राजा होता और राजनीतिक रूप से संगठित विशः, अर्थात् जिस प्रजा का अपना देश हो और राजा हो, राष्ट्र कहलाती थी। जन में सजातता का

विचार होना आवश्यक है, वह चाहे वास्तविक हो या कल्पित। प्रत्येक जन में अनेक टुकड़ियाँ होतीं, जो ग्राम कहलाती थीं। बाद में ग्राम जिस स्थान पर बस गया, वह स्थान भी ग्राम कहलाने लगा पर शुरू में ग्राम में स्थान का विचार न था, बल्कि अनवस्थित ग्राम भी होते और विशः भी। ग्राम का नेता ग्रामणी कहलाता। आपत्ति के समय या आक्रमण के लिए जन के भिन्न-भिन्न ग्राम इकट्ठे होते। यह समूचे जन का ग्राम-ग्राम करके जुटना ही संग्राम कहलाता। इसी से युद्ध का नाम भी संग्राम हो गया। सैनिक, शस्त्रास्त्र और रथ रण में काम में लाते। धनुष, भाला, बर्छा, कृपाण, फरसा मुख्य शस्त्र थे। योद्धा लोग वर्म या कवच पहन कर लड़ते। जहरीले वाणों का भी प्रयोग होता। युद्ध में जन का नेता राजा होता था, बल्कि यह विचार पाया जाता है कि राजत्व का आरंभ युद्ध में ही हुआ। शांति काल में राजा जन या विशः का राजा होता, न कि भूमि का।

पशु-पालन और खेती मुख्य जीविकाएँ थीं। कृषि केवल वर्षा पर निर्भर न थी, सिंचाई भी होती थी। वैदिक आर्यों की खेती आरम्भिक दर्जे की थी। खादों का विशेष प्रयोग वे न जानते थे। खेती की उपज मुख्यतः अनाज ही थे। कपास आदि बाग-बगीचों की बात उस समय नहीं पाई जाती। भूमि का स्वामी राजा नहीं होता था, बल्कि जनता ही थी। भूमि दाय रूप में अथवा जंगल आदि साफ करके मिलती थी। खरीदने का रिवाज नहीं था, पर जंगम-संपत्ति का लेन-देन काफी था। मुद्रा नहीं के समान थी। वस्तु विनिमय चलता था। ऋण देने-लेने की प्रथा भी थी। ऋण न चुकने से ऋणी दास बन सकता था। जुआ खेलने का रिवाज बुरी तरह था और वही प्रायः ऋण का कारण होता था।

कुछ शिल्प भी प्रचलित थे। बढ़ई या रथकार का काम बड़े महत्त्व का था, क्योंकि वही युद्ध के लिए रथ तथा कृषि के लिए हल या गाड़ी बनाता था। इसी कारण लोहार (कर्मार) का काम भी बड़े गौरव का था। वह अयस् धातु का हथियार बनाता था। मालूम नहीं यह अयस्

धातु लोहा है या ताँबा। चमड़ा रँगने और ऊनी कपड़ा बुनन के शिल्पों का भी गौरव था। स्त्रियाँ चटाई आदि भी बनातीं। शिल्पियों की स्थिति साधारण विशः से कुछ ऊँची होती थी। प्रत्येक गाँव में कृषकों के साथ सूत (रथ के सारथी) आदि भी थे। ये बुद्धिमान् और मनीषी माने जाते थे और इनकी स्थिति लगभग ग्रामणी के बराबर थी।

वैदिक काल में नगरों और नागरिक जीवन की सत्ता विशेष नहीं दीख पड़ती। पुर से अभिप्राय प्रायः परकोटे से घिरे हुए गाँव से ही है। नदियाँ पार करने के लिए नावें चलती थीं। सिंधु और समुद्र में जाने वाली नावों का उल्लेख अवश्य मिलता है, किंतु कई एक विद्वान् सिंधु और समुद्र का अर्थ केवल बड़ी नदी करना चाहते हैं। दूसरी तरफ अनेक विद्वानों की धारणा है कि आर्यों की नावें समुद्र के किनारे-किनारे फारस तक जाती थीं। आजकल जिसे हम फारस की खाड़ी कहते हैं, उसके ऊपर दजला और फ़रात काँठों में बहुत प्राचीन काल में सभ्यता का उदय हुआ था। वहीं पर बाबुली राज्य स्थापित था। इसी तरह नील नदी के काँठे में मिस्र देश में एक सभ्य जाति बसती थी। पच्छिम एशिया में कई जातियाँ आईं और बसती रहीं। इन सब देशों और जातियों के साथ वैदिक आर्यों का जलमार्ग से संपर्क था और इनकी सभ्यता और ज्ञान में परस्पर आदान-प्रदान चलता था।

राजा का ज़िक्र पहले किया गया है। राजकाज में उसका स्वेच्छा-चार नहीं चलता था। वह पूरी तरह नियंत्रित था। प्रजा ही राजा का वरण करती, अर्थात् योग्य उत्तराधिकारी के अभाव में वह नया राजा चुनती और उत्तराधिकारी होने पर भी उसके राजा बनने की विधिवत् स्वीकृति देती। राजा को राज्य के रूप में एक थाती सौंपी जाती। यदि राजा अभिषेक के समय की हुई प्रतिज्ञा को तोड़ दे तो विशः उसे पद-च्युत या निर्वासित भी कर देतीं। विशः अपने अधिकारों का प्रयोग समिति नाम की संस्था द्वारा करतीं। राज्य की बागडोर समिति के हाथ में

रहती। राजा को वह चाहे जैसे नचाती। तमाम राजकीय प्रश्नों पर विचार और निर्णय करना, राज्य का मंत्र अर्थात् नीति निर्धारित करना उसी के हाथ में था। उसमें स्वतन्त्र वाद-विवाद पूरी शांति के साथ होता। वक्ता लोग युक्तियों से और वक्तृत्व-कला से सदस्यों को अपने-अपने पक्ष में करने का यत्न करते। समिति के अतिरिक्त एक और संस्था होती, जो 'सभा' कहलाती। शायद यह चुनी हुई छोटी-सी संस्था थी और समिति तमाम विशः की संस्था। राष्ट्र में न्यायालय का कार्य सभा ही करती थी। इनके अतिरिक्त सेना थी। राज्य के मुख्य अधिकारी, पुरोहित, सेनापति, ग्रामणी आदि राजा बनानेवाले राजा (राजानो राजकृतः) कहलाते थे। राज्याभिषेक एक बड़ा अर्थपूर्ण कार्य होता था और इसी के द्वारा राजा पर जवाबदेही डाली जाती थी। उस जवाबदेही को निभाने के लिए उसे प्रजा से बलि या भाग (कर) लेने का अधिकार होता। जहाँ समिति का इतना अधिकार था, वहाँ बिना राजा के समिति का ही राज्य करना भी कोई आश्चर्य की बात नहीं। इस तरह अराजक जन भी वैदिक आर्यों में थे। अनेक प्रतापी राजा अपनी शक्ति दूर तक फैला लेते थे। वे सम्राट् कहलाते। साम्राज्य वास्तव में कुछ राज्यों का समुदाय या समूह होता, जिनमें से एक मुखिया मान लिया गया हो। साम्राज्य के अलावा एक दूसरी राज्य-पद्धति भी थी, जिसे आधिपत्य कहते। अंत में सार्वभौम राज्य का आदर्श चला। उसका अर्थ था समूचे आर्यावर्त का अधिपति, वह चक्रवर्ती भी कहलाता था, अर्थात् उसके रथ का चक्र भिन्न-भिन्न राज्यों में निर्वाध चल सकता था। उस समय का धर्म, कर्म, सामाजिक जीवन, राष्ट्र का आदर्श तथा और दूसरी बातों का पता वेदों के अध्ययन से लगता है। लिपि और वर्णमाला का आरंभ भी उसी समय हुआ है।

३. उत्तर वैदिक काल

इसके बाद उत्तर वैदिक काल में भी आर्यों का सारे भारतवर्ष में फैलना और अपनी संस्कृति और सभ्यता को चारों ओर फैलाना जारी

रहा। ज्ञान और तत्त्वचिंतन की लहरें उठीं और धार्मिक और तात्त्विक गवेषणा का वह भांडार, जिसे सामूहिक रूप से उपनिषद् कहते हैं, तैयार हुआ। उसमें मुनियों के साथ-साथ विदेह के जनक, केकय के अश्वपति, पंचाल के प्रवाहण जैवलि और काशी के अजातशत्रु आदि राजाओं के नाम भी सुने जाते हैं। ज्ञान की प्यास से व्याकुल होकर अनेक समृद्ध तथा कुलीन युवक घर छोड़ कर निकल पड़ते और गंधार से विदेह तक विभिन्न देशों में विचरते और जंगलों में भटकते हुए आश्रमों में विद्वान् आचार्यों की सेवा करते और तप और स्वाध्याय तथा विचार और अनुशीलन का जीवन बिताते। जनक वैदेह की सभा में उस शास्त्रार्थ की कथा, जहाँ याज्ञवल्क्य ने सब विद्वानों और विदुषी गार्गी के प्रश्नों का उत्तर देकर दक्षिणा की हजार गौओं को जीत लिया था, इसी उत्तर वैदिक काल की है। इसी उत्तर वैदिक काल के आश्रमों में भारतीय विचार की ठोस बुनियाद पड़ी और भारतीय विचार-पद्धति का एक व्यक्तित्व बना। इसी काल में आर्यों के समाज-संस्थान की नींव पड़ी। इसी काल में जनों के राज्य जनपदों के बन गए।

प्रत्येक व्यक्ति चार ऋण लेकर पैदा होता है—देवताओं का, ऋषियों का, पितरों का और मनुष्यों का—यह विचार इसी युग में परिपक्व हुआ। उन्हीं ऋणों के कारण मनुष्य के कर्त्तव्य निश्चित होते हैं। मनुष्य, अपने पड़ोसी मनुष्यों का ऋण आतिथ्य आदि का धर्म निबाहने से चुका सकता है, देवताओं का ऋण यज्ञ करने से चुका सकता है। ऋषियों का ऋण ज्ञान का ऋण है, वह अध्ययन और विद्या-प्रचार से चुक सकता है। पितरों का ऋण संतान के जन्म से चुकता है। ऋणों के इसी विचार पर आश्रम-व्यवस्था भी निर्भर थी। पहले दो आश्रम विद्यार्थी और गृही, सर्वसाधारण के लिए थे। दूसरे दो, वानप्रस्थ और परिव्राजक, ज्ञानवान् लोगों के लिए थे। वानप्रस्थ गाँवों और नगरों के पड़ोस में आश्रमों में रहते। वही आश्रम विचार और अध्ययन के केन्द्र होते। राष्ट्र के जीवन पर उनका बड़ा प्रभाव

पड़ता। जैसे-जैसे आर्थिक और सामाजिक जीवन में परिपक्वता आई, वैसे ही राज्य-संस्था में भी।

इस युग का राजनीतिक इतिहास शृंखलाबद्ध रूप में अभी तक नहीं मिला है। कुछ घटनाओं का जिक्र जहाँ-तहाँ आता है और उन्हीं का संकलन करके इतिहास जोड़ा गया है।

४. महाजनपद-काल

सातवीं—छठी शताब्दी ई०पू० तक विदेह और वैशाली में संघराज्य स्थापित हो चुका था। वैशाली मुजफ्फरपुर जिले में बनियाँ बसाढ़ नामक गाँव के आस-पास ही पुराने स्थान का नाम था। वहाँ लिच्छवि लोग रहते थे। विदेहों और लिच्छवियों के पृथक्-पृथक् संघों को मिला कर फिर इकट्ठा एक ही संघ या गण बन गया जिसका नाम वृजि या वज्जीगण था। काशी का राज्य .क बड़ा शक्तिशाली राज्य था। कोशल कई बार उसके अधीन रहा। मगध में बार्हद्रथ वंश का राज्य समाप्त होने पर प्रजा ने काशी वंश के शिशुनाक को राजा बनाया और बड़े-बड़े प्रतापी और दिग्विजयी राजा इस वंश में हुए। इस प्रकार उस समय १६ महाजनपद स्थापित हो गए थे। इन १६ महाजनपदों में आठ पड़ोसी जोड़ियाँ गिनी जाती थीं—(१) अंग-मगध, (२) काशी-कोशल, (३) वृजि-मल्ल, (४) चेदि-वत्स, (५) कुरु-पंचाल, (६) मत्स्य-शूरसेन, (७) अश्मक-अवंति, (८) गंधार-कंबोज। आज के बिहार का इन आठ में से तीन के साथ संबंध था। अंग देश मगध के ठीक पूरब था। उसकी राजधानी चंपा या मालिनी, जिसे आधुनिक भागलपुर शहर का पच्छिमी हिस्सा चंपानगर सूचित करता है, उस समय भारतवर्ष की सबसे समृद्ध नगरियों में से थी। मगध की राजधानी राजगृह भी वैसी नगरियों में से एक थी। मगध का राज्य इन १६ महाजनपदों में से भी जो चार-पाँच मुख्य थे, उनमें एक था। काशी राष्ट्र की राजधानी वाराणसी उस समय भारतवर्ष में सबसे समृद्ध नगरी थी। कोशल देश की राजधानी श्रावस्ती

अचिरावती (राप्ती) नदी के किनारे थी। तिरहुत या उत्तर विहार के वृजिगण की राजधानी वैशाली थी। आज भी चंपारन के थारू लोग अपने से भिन्न लोगों को वजि और नेपाली लोग वजिया कहते हैं। वैशाली के चारों तरफ तिहरा परकोटा था, जिसमें जगह-जगह पर बड़े-बड़े दरवाजे और गोपुर बने हुए थे। वृजि लोगों में प्रत्येक गाँव के सरदार को राजा या राजुक कहते थे। कहते हैं, लिच्छवियों के ७७०७ राजा थे। उनमें से प्रत्येक का उपराज, सेनापति और भांडागारिक (कोषाध्यक्ष) भी था। ये सब राजा अपने-अपने गाँव में शायद स्वतन्त्र शासक थे, किंतु राज्य के सामूहिक कार्य का विचार 'परिषद्' में हुआ करता था, जिसके वे सब सदस्य हुआ करते थे। इसी राज्य-परिषद् के हाथ में लिच्छवि राष्ट्र की मुख्य शासन-शक्ति थी। शासन-प्रबंध के लिए इसमें से शायद चार या नौ आदमी गणराजा चुन लिए जाते थे। कहते हैं, वैशाली के इन ७७०७ राजाओं में से प्रत्येक का अभिषेक होता था। अभिषेक के लिए एक पुष्करिणी थी, जिस पर कड़ा पहरा रहता था और ऊपर भी लोहे की जाली लगी रहती थी, जिससे पक्षी भी उसके अंदर न घुस सकें। सब राजा और रानियों का पुष्करिणी के जल से अभिषेक होता था।

मल्ल जनपद वृजि जनपद के ठीक पच्छिम और कोशल के ठीक पूरब सटा हुआ था। वत्स देश काशी के पच्छिम और चेदि—आधुनिक बुंदेलखंड—वत्स के पच्छिम तथा यमुना के दक्खिन था। वत्स की राजधानी कौशांबी (आज का इलाहाबाद जिले का कोसम गाँव) थी। पच्छिम समुद्र के बंदरगाहों से तथा गोदावरी काँठे के प्रतिष्ठान (पैठन) से मध्य देश और मगध की नगरियों को जोड़नेवाले रास्ते उज्जयिनी और कौशांबी होकर ही गुजरते थे। उनकी एक शाखा गंगा-पार साकेत, श्रावस्ती और वैशाली चली आती थी, और दूसरी जलमार्ग से काशी होते हुए समुद्र तक पहुँचती थी। पंचाल देश कोशल और वत्स के पच्छिम तथा चेदि के

उत्तर था। कुरु उसके पच्छिम और ब्रजभूमि के उत्तर था। वे दोनों प्राचीन जनपद थे। कुरु-पंचाल मिल कर एक ही राष्ट्र गिने जाते और उनकी राजधानी इंद्रप्रस्थ, और कभी कांपिल्य नगर और कभी उत्तर पंचाल नगर होती। कुरु के दक्खिन शूरसेन (मथुरा) और मत्स्य भी वैसे ही पुराने राष्ट्र थे। इनके दक्खिन-पच्छिम अवंति शक्तिशाली राज्यों में था और उसकी राजधानी उज्जयिनी वहुत प्रसिद्ध थी। अश्मक की राजधानी पौदन्य थी। कलिंग की राजधानी दंतपुर थी। उत्तर में गंधार देश विद्या का केन्द्र होने के कारण प्रख्यात था और उसकी राजधानी तक्षशिला थी, जहाँ मध्य देश के राजपुत्र, सेठियों के लड़के और गरीब ब्राह्मण सभी पढ़ने जाते थे। कश्मीर इसी महाजन-पद में सम्मिलित था। गंधार-कश्मीर के उत्तर आधुनिक पामीरों का पठार तथा उसके पच्छिम बदख्शाँ प्रदेश कंबोज महाजनपद कहलाता; उसकी पूरबी सीमा सीता नदी (यारकंद दरिया) और पच्छिमी बाल्हीक (बलख) प्रदेश था। इन जनपदों के अतिरिक्त कई छोटे राष्ट्र थे, जिनमें आधुनिक नेपाल तराई में अचिरावती और रोहिणी नदी के बीच शाक्यों का छोटा-सा गणराष्ट्र था, जिसकी राजधानी कपिलवस्तु में थी।

इस प्रकार इन राष्ट्रों की पश्चिमोत्तर सीमा तो कंबोज तक गई थी और पूरबी सीमा अंग और कलिंग तक, तथा दक्खिनी सीमा अश्मक राज्य तक। अश्मक के दक्खिन आंध्र आदि राष्ट्र थे, जिनमें दामिल रट्ठ का भी नाम सुना जाता है। उसके भी आगे नागदीप और कारदीप थे। नागदीप उत्तर-पच्छिमी सिंहल का पुराना नाम था। आर्य तापस और व्यापारी इन राष्ट्रों में वरावर आया-जाया करते थे। वाराणसी के व्यापारी सिंहल तक जाते-आते। पूरब तरफ़ उसी तरह व्यापारी सुवर्ण-भूमि तक, जो आधुनिक बर्मा है, जाते थे। भरुकच्छ (भरुच) और वाराणसी से सीधे सुवर्णभूमि के लिए नावें रवाना होती थीं; किंतु विशेष कर चंपा के लोग उधर व्यापार करने जाते थे। इसी व्यापार के सिलसिले में आर्यावर्त के लोग पूरबी सागर के अनेक द्वीपों का परिग्रह

या भौगोलिक खोज-ढूंढ़ करते। कई द्वीपों में, जहाँ की जमीन बहुत उपजाऊ होती, वे बस भी जाते थे।

इन राज्यों में आपस में लड़ाइयाँ भी हुआ करतीं। उनकी राज-सत्ता की बुनियाद उनकी आर्थिक समृद्धि पर ही थी। राज्य जनमूलक (tribal) न रहा था, प्रत्युत जानपद (territorial) हो गया था। पर, तो भी भूमि राज्य की मिल्कियत न थी—वह कृषकों की संपत्ति थी। राजा खेत की उपज पर केवल वार्षिक भाग (या बलि) लिया करता, जंगल परती का निपटारा करता और अस्वामिक जमीन पर अधिकार करता। इस राजभोग का वह निजो काम में उपयोग कर सकता। राजकीय भाग गाँव का मुखिया (ग्रामभोजक) अथवा महामात्य वसूल करता। भूमि का दान और विक्रय हो सकता था। पिता की संपत्ति का पुत्रों में बँटवारा भी होता था। प्रत्येक गाँव में अनेक कुल(परिवार) रहते थे और ३० से १००० कुलों तक के ग्रामों का उल्लेख मिलता है। इस युग तक कपास की खेती और बागवानी खूब चल चुकी थी और आरामों और उद्यानों (बगीचों) की रिवाज खूब हो गया था। नावों, जहाजों और इमारतों के लिए लकड़ी जंगलों से लाई जाती। गाँवों के मवेशी पड़ोस के चरागाहों में चरते। गाँवों का गोपालक उन्हें रोज चराने के लिए ले जाता। गाँवों के चारों ओर दीवार रहती और उसमें दरवाजे होते। गाँव में सामूहिक रूप से सिंचाई का प्रबन्ध था। मजदूर खेतों में मजदूरी करते। खेती एक ऊँचा पेशा गिना जाता। वह वैश्यों का काम तो था ही, किंतु ब्राह्मण भी खेती करते थे और गण-राज्यों के सभी सामान्य क्षत्रिय कृषक ही होते थे। दास-दासियाँ प्रत्येक धनी आर्य गृहपति के घर में रहतीं, पर खेती का काम भृतक ही करते। उन्हें रहने की जगह और अनाज अथवा सिक्के के रूप में भृति मिलती। गाँव के लोग सामूहिक मामलों का प्रबंध स्वयं करते। मुखिया ग्रामभोजक कहलाता। कई प्रकार के शुल्कों और जुर्मानों से उसकी आमदनी होती, गाँव की सभाएँ सामूहिक रूप से सभाभवन और सराएँ बनातीं, बगीचे

लगवातीं, तालाब खुदवातीं और बाँध बँधवातीं थी । उनके निश्चय के अनुसार सड़कों की मरम्मत के लिए गाँव का प्रत्येक युवक बारी-बारी मुफ्त मजदूरी करता । गाँव की सभाओं और सामूहिक कामों में स्त्रियाँ भी भाग लेतीं ।

शिल्प और व्यवसाय की भी यथेष्ट उन्नति थी । उनमें श्रम-विभाग भी हो गया था, जैसे, वड्ढकि (बढ़ई) जो इमारत के काठ के काम से लेकर जहाज तक बनाता, थपति (स्थपति) इमारत बनानेवाला (आज कल भी उसे थवई कहते हैं), तच्छक (तक्षक—रंदा फेरनेवाला) और भमकार (भ्रमकार—खराद करने वाला) आदि । कम्मार में सब किस्म कि धातु का काम करने वाले सम्मिलित थे । विशेष शिल्प बहुत जगहों में विशष रूप से जम गए थे—जैसे केवल बढ़इयों के, लोहारों के अथवा शिकारियों (नेसादों—निषादों) आदि के गाँवों का वर्णन आता है । बड़ी नगरियों के विशेष मुहल्लों और गलियों में भी इसी प्रकार विशेष शिल्प केन्द्रित हो गए थे—जैसे, दंतकार वीथी (हाथी दाँत का काम करने वालों का बाजार), रजक वीथी (रँगरेजों की गली) इत्यादि । प्रत्येक शिल्प या व्यवसाय में लगे हुए व्यक्तियों का अपना संगठित समूह था, जिसे श्रेणि कहते थे । "वड्ढकि, कम्मार, चम्मकार, चित्रकार आदि १८ श्रेणियाँ" यह एक प्रचलित मुहावरा-सा था । पर प्रत्येक नगर या प्रदेश में सभी होती हों या इनसे अधिक श्रेणियाँ नहीं होती थीं, ऐसी बात न थी । ऊपर की चार श्रेणियों के अतिरिक्त सुनार, पाषाण कोट्टक, दंतकार, जौहरी, नलकार (नल की चटाइयाँ आदि बनाने वाला), कुम्हार, रंगरेज, मछुए, कसाई, शिकारी, माली, नाई, माँझी और नाविक, जल निय्यामक (जहाजों के मार्गदर्शक) और थलनिय्यामक अथवा अटवी-आरक्खक (जंगल में व्यापारी काफलों के मार्ग-रक्षक और मार्ग-दर्शक) आदि धंधों की अलग श्रेणियाँ थीं । प्रत्येक श्रेणि का एक मुखिया (पामोक्ख—प्रमुख) या जेट्ठक (ज्येष्ठक) होता, जसे—कम्मार जेट्ठक या बड्ढकि जेट्ठक आदि । ये श्रेणियाँ जातियाँ न थीं । प्रत्येक

व्यक्ति को अपना धंधा चुनने की स्वतन्त्रता थी। इस प्रकार श्रेणि के लोगों की संतानों के अतिरिक्त दूसरे बालक और नवयुवक भी उस्ताद कारीगरों के अंतेवासिक अर्थात् शागिर्द बनते थे। साहित्य में उल्लेख मिलता है कि राजा का पुत्र व्यापारी बन कर काफले के साथ गया अथवा कुम्हार या माली या रसोइया या अंतेवासिक बना। क्षत्रिय धनुर्धर जुलाहे का काम, ब्राह्मण शिकारी या रथकार का काम करता पाया जाता है। इस तरह पूरी स्वतन्त्रता थी, तो भी श्रेणियों का संगठन बना रहता।

व्यापार की भी खूब उन्नति थी। व्यापारी बाहर के व्यापार के लिए सार्थों अर्थात् काफ़लों में चलते और स्थल और जल में लंबी-लंबी यात्राएँ करते। एक-एक समुद्रगामी जहाज़ में ५–५ सौ, ७–७ सौ व्यापारियों के इकट्ठे यात्रा करने का उल्लेख पाया जाता है। व्यापारी भी संघटित थे। सार्थों का मुखिया सार्थवाह कहलाता। उनकी पूंजी भी कई बार सम्मिलित होती और व्यापार तथा मुनाफा भी साझे में होता। कीमती चीज़ों का ही व्यापार अधिक होता—जैसे रेशम, मलमल, शाल, दुशाले, पट्टू, ज़री और क़सीदे के काम किए हुए कपड़े, अस्त्र-शस्त्र, कवच, हथियार, कैंची, चाकू, दवाएँ, सुगंध, हाथी दाँत का सामान, सोना, रत्न, जवाहर, हाथी, घोड़े, दास, दासी आदि व्यापार की मुख्य वस्तुएँ थीं।

व्यापार बहुत देशों से होता। गंगा और यमुना का जलपथ तो खुला था ही, पर नावें बर्मा तक सीधी चली जातीं। अनेक स्थलपथ भी बने हुए थे। मध्यदेश से उत्तर-पच्छिम गंधार तक राजपथ था। शायद आजकल का राजपथ उसी पथ से मिलता-जुलता है। आधुनिक सिंध (सौवीर) की राजधानी रोरुक या रोरुव (आधुनिक रोरी) और पच्छिमी समुद्र तट के बन्दरगाह भरुकच्छ आदि व्यापार-केन्द्र थे, जिनका व्यापार बावेरु (बाबुल) के साथ था और भारतीय नावें आधुनिक लालसागर, नील नदी और मध्यसागर तक पहुँच जातीं थीं। ऊपर कहा जा चुका है कि दक्खिन सिंहल द्वीप तक और पूरबी समुद्र के द्वीपों में भी

भारतीय व्यापारी पहुँचते थे। इस विदेशी व्यापार की बदौलत बड़ी समृद्धि थी। क्रय-विक्रय खुले सौदे से होता था। दामों पर कोई बंधन न था। राज्य की तरफ से शहर में आने वाले देशी माल पर प्रायः $\frac{१}{२०}$ तथा विदेशी पर $\frac{१}{१०}$ और वस्तु का एक नमूना चुंगी के रूप में लिया जाता। सिक्के काम में आते, जिनमें मुख्य कहापण (कार्षापण) था। गहने आदि गिरवी रखने और ऋण-पंत्र लिख देने का भी रिवाज था। सूद पर रुपया देने का पेशा भी कुछ लोग करते। नगरों में व्यापारियों के संघ को निगम कहते थे और उनके मुखिया सेट्ठी (श्रेष्ठी) कहलाते थे। सेट्ठी जीवन भर के लिए निर्वाचित होता था।

उस समय के राजनीतिक समाज का चित्र भी मिल जाता है। प्रत्येक बस्ती में समूची प्रजा अपने पेशे या धंधे के मुताबिक विभिन्न समूहों में बँटी हुई थी, जिसके मुख्यतः कृषक, शिल्पी और व्यापारी तीन विभाग थे। अपने आंतरिक अनुशासन में प्रत्येक स्वतन्त्र था। ये ही समूह—ग्राम, श्रेणि और निगम—अनुशासन की सबसे छोटी इकाइयाँ (units) थीं। नगरियों का प्रबन्ध और अनुशासन इस युग में एक नई समस्या थी। उनमें विभिन्न श्रेणियों का प्रतिनिधित्व आहिस्ता-आहिस्ता स्थापित हुआ और इन निगमों में ही नगर-संस्थाओं का समय पाकर संघटन हुआ।

एकराज्य और गणराज्य महाजनपद युग में थे। इस काल में राज्य का समूचा आर्थिक और सामूहिक आधार श्रेणियों और निगमों पर था। राज्य की आय मुख्यतः उन्हीं से थीं। युद्ध-सामग्री उन्हीं के द्वारा तैयार होती थी। श्रेणियों के आपस के झगड़ों के फैसले के लिए एक विशेष पद बनाया गया था। प्रत्येक महत्त्व के कार्य में राजा 'नेगमजानपदा' की सलाह लेता। यह एक बाकायदा संस्था थी। राज्य के मुख्य-मुख्य अधिकारियों का समूह होता, जिसको परिषा (परिषद्) कहा जाता। वे राजा के नियुक्त किए होते थे, किंतु ब्राह्मणों, श्रेणि-मुख्यों, श्रेष्ठियों

आदि में से चुने जाते थे और इस प्रकार वे प्रजा के प्रतिनिधि रूप में ही अधिकार पाते थे ।

गणराज्यों में अन्तिम और उच्चतम अनुशासन एक सभा के निर्वाचित व्यक्ति के हाथ में रहता । उन सभाओं की कार्यशैली बहुत कुछ उन्नत और परिष्कृत हो चुकी थी । उनमें बाकायदा छंद या सम्मति (vote) लेने, निश्चित विधान के अनुसार प्रस्ताव पेश (ज्ञप्ति) करने, भाषण देने, विवादग्रस्त विषय सालिसों को सुपुर्द करने आदि की परिपाटी चल चुकी थी। उन सभाओं के लिए अपने विशेष भवन थे, जो संथागार कहलाते थे। एकराज्यों और गणराज्यों के बीच साम्राज्य अथवा सार्वभौम राज्य बनाने की कोशिश जारी थी ।

आजकल लोग अक्सर कह बैठते हैं कि भारतवर्ष में प्रजातन्त्र था ही नहीं और यहाँ के लोग हमेशा एक राजा की मनमानी हुकूमत को ही समझ सकते हैं और जानते हैं। यह बात बिलकुल गलत है। बहुत प्राचीन काल में यहाँ के लोग प्रजातन्त्र से वाकिफ थे और गणराज्यों की स्थापना कई जगहों में थी । श्रावस्ती से अंग तक अर्थात् गोरखपुर-बलिया से भागलपुर तक के बीच हिमालय से दक्खिन और मगध से उत्तर आठ गणराज्यों के नाम स्वर्गीय श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने गिनाए हैं— यथा—(क) कपिलवस्तु के शाक्य, (ख) रामग्राम के कोलिय, (ग) वैशाली के लिच्छवि, (घ) मिथिला के विदेह (लिच्छवि और विदेह मिलकर वृजि या वज्जी हुए थे, (ङ) कुशीनारा और पावा के मल्ल, (च) पिप्पलीवन के मोरिय, (छ) अल्लकप्प के बुली और (ज) सुंसुमारगिरि के भग्ग। इनमें से प्रधान वृजि और मल्ल थे। लिच्छवियों के गणराज्य में मुख्य पदाधिकारी राजा, उपराज, सेनापति और भांडागारिक होते थे । उनके ७७०७ राजाओं का ऊपर जिक्र आया है। यह उन कुलों की संख्या है, जो इस गणराज्य के मुख्य स्थापित करने वाले थे। उनकी जनसंख्या १,६८,००० थी । वे अपने सभाभवन में, जिसे संथागार कहते थे, सभा करते और वहाँ केवल राजकीय और सेना सम्बन्धी बातों पर ही

नहीं, बल्कि कृषि और व्यापार पर भी विचार करते थे। गण अपने में से महत्तक अथवा दूत दूसरे गणों के पास भेजता था। राजा न्यायाधिकारी भी था। कोई आदमी उस वक्त तक कसूरवार नहीं समझा जाता था, जब तक सेनापति, उपराज और राजा उनको अलग-अलग कसूरवार न ठहरावें। सब मुकदमों की, और जो सजा दी जाती थी, उसकी तालिका रखी जाती थी। वोहारिक लोग फैसलों के खिलाफ अपील सुनते थे। बड़ी अदालत के न्यायाधीश सूत्रधार कहलाते थे। सब के ऊपर आठ आदमियों की अदालत थी, जिसको अष्टकुलक कहते थे। इनमें से कोई भी अदालत अगर किसी को बेकसूर करार दे तो वह छोड़ दिया जाता था। जब मगध के राजा के दूत ने बुद्ध से जाकर वज्जियों (लिच्छवियों और विदेहों) पर आक्रमण करने की बात पूछी, तब बुद्ध ने इसका उत्तर दूत को न देकर अपने शिष्य आनन्द को दिया। उन्होंने पूछा—'हे आनंद! क्या तुमने सुना है, वज्जी अपने सभा भरी और अक्सर किया करते हैं?' और इसी प्रकार के कई और प्रश्न पूछे, और जब आनन्द ने उनका उत्तर 'हाँ' में दिया तो बुद्ध ने अपनी राय इन शब्दों में दी—

"१—जब तक, हे आनन्द, वज्जी लोग अपनी सभा भरी और और अक्सर करते रहेंगे, २—जब तक वे लोग एक साथ मिल कर बैठगे, एक साथ मिलकर उठेंगे, एक साथ मिल कर अपना सब काम करेंगे, ३—जब तक ये लोग बाकायदा कानून बनाए बिना कोई आज्ञा जारी नहीं करेंगे, बने हुए नियम का उल्लंघन न करेंगे और यथाविधि नियमों के अनुसार मिलकर आचरण करेंगे, ४—जब तक वे अपने बड़े-बुजुर्गों की इज्ज़त करेंगे, प्रतिष्ठा करेंगे और उनके प्रति श्रद्धा रक्खेंगे और उनका कहना मानना अपना धर्म समझेंगे, ५—जब तक उनमें कोई स्त्री और लड़की जबर्दस्ती या फुसलाकर न रोक ली जायगी, ६—जब तक वे अपने चैत्यों की इज्जत करेंगे, प्रतिष्ठा करेंगे और उनके प्रति श्रद्धा रक्खेंगे, ७—जब तक वे अर्हंतों की रक्षा करते रहेंगे, उनका पोषण करते रहेंगे,

उन्हें विचरने की सुविधा देते रहेंगे, तब तक वज्जी लोग उन्नति ही करते रहेंगे, और उनकी अवनति नहीं होगी।" यह सुनकर दूत ने कहा कि— "मगधराज वज्जियों को नहीं जीत सकता।" जीतने का एक ही उपाय था, उनमें मतभेद पैदा कना। यह बात आज से २५–२६ सौ वर्ष पहले कही गई थी। तब से आज तक भारत के इतिहास में यह कितनी बार चरितार्थ हो चुकी और आज भी चरितार्थ हो रही है।

इन गणराज्यों के अलावा स्वर्गीय जायसवाल ने और कितने ही गणराज्यों के नाम दिए हैं, जो पंजाब में पुराने समय से चले आते थे और जिनका मुकाबला सिकन्दर को करना पड़ा था। यूनानी लेखों से इन गण-राज्यों के संघटन का पता मिलता है। अंबष्ठों के गणराज्य में ज्येष्ठों की एक दूसरी सभा भी होती थी। चुनाव में सम्मति देने का अधिकार हर आदमी को था। वे अपने सेनापति भी चुनते थे। क्षुद्रक और मालव लोग अपना राजा नहीं चुनते थे। कठ लोग राजा चुनते थे। सौभूत लोगों का भी कुछ ऐसा ही संघटन था। इन लोगों में व्यक्ति की कोई हैसियत न थी, वह गण का केवल एक अंश-मात्र था। कहीं-कहीं राजा सिर्फ लड़ाई के समय चुन लिया जाता था। इस तरह नीचे लिखे कई प्रकार के राज्य भारतवर्ष में थे, जैसे, अराजक-राज्य, गणराज्य, युवराज राज्य, दुराज, वराज्य और विरुद्धराज्य अर्थात् विभिन्न दलों के राज्य।[1] उस समय की सभाओं के नियम प्रायः वैसे ही थे, जैसे आजकल के होते हैं।

५. मगध का पहला साम्राज्य

इनके अतिरिक्त जो बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित हुए, उनका इतिहास अत्यन्त गौरवपूर्ण है। छोटे-छोटे राज्यों में आपस में चढ़ा-ऊपरी और साम्राज्य स्थापित करने का प्रयत्न हमेशा जारी रहा। इन्हीं प्रयत्नों का एक नतीजा यह निकला कि मगध का राज्य बहुत प्रतापी और विस्तृत हो

---

१. हिन्दू पॉलिटी, १, पृ० ९९।

जनपदों में रहने वाली प्रजा अपने जनपद के प्रति अभिमान और भक्ति का भाव रखती। मौर्य साम्राज्य में केन्द्रित शासन की शक्ति बढ़ाने का प्रयत्न हुआ था और वहुत गाँवों में कर की वसूली, रक्षा, न्याय आदि के लिए राजकीय 'पुरुष' नियुक्त थे। वे गोप कहलाते थे। न्यायालय दो प्रकार के थे—कंटकशोधन यानी फौजदारी और धर्मस्थीय यानी दीवानी। वसूली, न्याय आदि के सिवा सिंचाई, जंगल, खान और शराबखानों की देख-रेख के लिए भी महकमे थे। पाटलिपुत्र से चारों तरफ सड़कें बनीं हुई थीं। मनुष्यों और पशुओं के लिए चिकित्सालय थे। मनुष्य-गणना होती थी। वर्षा की माप रखी जाती थी। फौजदारी मामलों में मृतक-परीक्षा की रीति थी। सेना में छः विभाग थे। पैदल, सवार, हाथी, रथ, जलसेना और रसद। पाटलिपुत्र में इन्तजाम के लिए ३० आदमी प्रजा द्वारा नियुक्त होते थे। एक महकमा विदेशियों की और एक शिल्प की देख-रेख के लिए भी था। नगरों का प्रबंध भी वैसा ही था। दंड-विधान कड़ा था। कारीगर का हाथ या आँख बेकार कर देने वाले को फाँसी होती थी, और सिंचाई के तालाब का बाँध तोड़ने वाले को वहीं डुबा दिया जाता था। मेगास्थनेस ने लिखा है—"भारतवर्ष के लोग कभी झूठ नहीं बोलते, मकानों में ताला नहीं लगाते और अदालतों में कम जाते हैं उसने यह भी लिखा है कि भारत में दासता न थी। कौटिल्य भी लिखता है—"म्लेच्छों को अपनी संतान बेचने या बंधक रखने से दोष नहीं लगता, पर आर्य कभी दास नहीं हो सकता।" जो थोड़ी दासता थी उसे भी कौटिल्य ने बिलकुल उठाने की चेष्टा की। उसने ऐसे नियम बनाए कि दास लोग आसानी से आर्य यानी स्वतन्त्र भारतवासी बन सकते।

अशोक ने कलिंग-विजय के बाद बहुत पश्चात्ताप किया और उसके बाद अधिक विजय का विचार छोड़ दिया। उसने बेटे-पोतों के लिए भी यह शिक्षा दी कि "वे नई विजय न करें और जो विजय बाण खींच कर ही हो सके, उसमें भी क्षमा और लघुदंडता से काम लें। धर्म के द्वारा जो

विजय हो, उसी को असल विजय मानें !" अपने अधिकारियों को उसने लिखा—"शायद आप लोग जानना चाहें कि सीमा पर के जो राज्य अभी तक जीते नहीं गए हैं, उनके विषय में राजा क्या चाहता है। मेरी यही इच्छा है कि वे मुझसे डरें नहीं, मुझ पर भरोसा रखें। वे यह मानें कि जहाँ तक क्षमा का बर्त्ताव हो सकेगा, राजा हमसे क्षमा का बर्त्ताव करेगा" केवल मनुष्य-संहार ही उसने बंद नहीं किया, पशुओं की भी रक्षा की। "किसी प्राणी की हत्या या होम नहीं करना चाहिए और न समाज करना चाहिए (जानवर लड़ाकर तमाशा देखने को समाज कहते थे)......राजा के रसोई घर में शोरवे के लिए प्रतिदिन सैकड़ों-हजारों प्राणी मारे जाते थे, पर अब, जब यह धर्मलिपि लिखी गई, केवल तीन प्राणी—दो मोर और एक मृग—मारे जाते हैं। वह मृग भी सदा नहीं। आगे वे तीन प्राणी भी न मारे जाएँगे।" पशुवध उसने बहुत अंश में वर्जित कर दिया। उत्सव की तिथियों पर जानवरों का वध अथवा बधिया करना और दागने की मनाही कर दी और केवल अनर्थ और विहिंसा के लिए जंगलों को जलाने का निषेध कर दिया। कई बार उसने कैदियों को मुक्त किया।

राजपुरुषों पर कड़ी निगरानी थी कि वे प्रजा को पीड़ित न कर पावें, एक भी निरपराध कष्ट न पावे,। बड़े-बड़े अधिकारी छोटे अधिकारियों के काम का निरीक्षण किया करते, अपने इलाके में दौरा करते और उनकी बदली भी हुआ करती। सब पंथवालों को आजादी थी। अशोक चाहता था कि विभिन्न पंथ वाले परस्पर सहिष्णुता और आदर का भाव रखें। उसने धर्ममहामात्य नियुक्त किए थे। उनका काम यह था कि विभिन्न ग्रंथों में सहिष्णुता और उदारता बनाए रखें; कैद, फाँसी आदि दण्डों की सख्ती को जहाँ तक बने कम करावें, इत्यादि। वह किसी खास धर्म की वृद्धि—किसी खास पंथ का प्रचार—नहीं चाहता था। धर्म से उसका मतलब था—पाप न करना, बहुत कल्याण करना, दया, दान, सचाई, शौच, प्राणियों को न मारना, ज्ञातियों, ब्राह्मणों और

श्रमणों के प्रति आदरपूर्ण वर्ताव, माता-पिता की सुश्रुषा दासों और मृतकों से उचित बर्ताव, गुरुजनों की पूजा, इत्यादि। लोगों के आराम के लि ए उसने सड़कों पर बरगद रोपवा दिए थे, जिनसे पशुओं और मनुष्यों को छाँह मिले। आमों की वाटिकाएँ रोपवाईं। आठ-आठ कोस पर कुएँ खुदवाए और सराएँ बनवाईं। जहाँ-तहाँ मनुष्यों और पशुओं के लिए प्याऊ बैठा दिए। मनुष्यों की चिकित्सा और पशु चिकित्सा का प्रबंध किया। मनुष्यों और पशुओं की उपयोगी औषधियाँ, जहाँ नहीं थीं, लाई और रोपी गईं। इसी प्रकार फल और मूल भी लाए और लगाए गए। सारे साम्राज्य में व्यवहार और दण्ड की समता स्थापित हो गई।

अशोक ने विदेशों में धर्म-विजय का बड़ा प्रयत्न किया। अनेक देशों में प्रचारक भिक्षुओं को भेजा, जिनमें उसका अपना बेटाम हेन्द्र भी था। वह अपनी बहन संघमित्रा के साथ पाटलिपुत्र के उसी घाट से, जिसको आज भी महेन्द्रू कहते हैं, सिंहल द्वीप के लिए रवाना हुआ था; और अपने को साथ बोधगया से महाबोधि वृक्ष की एक ओघी ले जाकर उसने सिंहल द्वीप में लगा दी और वहाँ दीप जला दिया। उस वृक्ष का वंशज आज तक उसी स्थान पर खड़ा है और वह दीप अभी तक बुझने नहीं पाया है। शायद संसार में दूसरा कोई उदाहरण ऐसा नहीं है। अशोक के प्रोत्साहन से भिक्षु-संघ ने अनेक भिक्षुओं को चारों तरफ भेजा और कश्मीर, गंधार, महाराष्ट्र, कर्णाटक, यूनान, हिमालय प्रदेश, बर्मा इत्यादि प्रदेशों में भिन्न भिन्न भिक्षु भेजे गए और इस प्रकार समूचे दक्खिन भारत और सिंहल में बौद्ध धर्म प्रचारित हुआ। यूनान का साम्राज्य उस समय यूनान से ईरान तक फैला हुआ था और इसमें सन्देह नहीं कि उस पर बौद्ध धर्म का प्रभाव पड़ा। इस प्रकार अशोक ने धर्म साम्राज्य, जो राजकीय साम्राज्य से कहीं अधिक विस्तृत था स्थापित किया। कुछ लोगों का कहना है कि इस धर्म प्रचार का ही यह दुष्परिणाम हुआ कि भारतवासियों के स्वभाव में शांति-प्रेम और आध्यात्मिक

उन्नति के पीछे मरने की आदत पैदा हुई और जम गई, और भारतवर्ष की राष्ट्रीयता और राजनीतिक गौरव नष्ट हो गए। संसार में बहुतेरे साम्राज्य स्थापित हुए और एक-एक करके विनष्ट हो गए। अपने-अपने समय में यूनान, ईरान, रोम, स्पेन, और फ्रांस तथा भारतवर्ष में ही गुप्तों, मुगलों और अंगरेजों का साम्राज्य अत्यन्त प्रभावशाली हुए। उनकी शक्ति सब पर विदित थी। ये सब राजनीतिक साम्राज्य थे। ये सब के सब, और अशोक का राजनीतिक साम्राज्य भी, नष्ट हो गए; पर जो धर्म-साम्राज्य अशोक ने स्थापित किया, वह आज तक कायम है। यद्यपि बौद्ध धर्म अपने स्थान से लुप्तप्राय हो गया है, पर आज भी संसार के अन्य भागों में उसका ऐसा साम्राज्य है, जो अशोक के समय से कहीं अधिक बढ़ा-चढ़ा है।

अशोक के बाद उसके बेटे कुणाल और उसके बाद उसके दो बेटों, दशरथ और संप्रति ने राज्य किया। संप्रति ने जैन धर्म के लिए वही किया, जो अशोक ने बौद्ध धर्म के लिए किया था। उस समय तक मौर्य साम्राज्य उन्नति के शिखर पर था। पाटलिपुत्र प्राचीनकाल का सबसे बड़ा नगर था। उसका घेरा २१½ मील था। चारों तरफ लकड़ी का परकोटा था, जिसमें ६४ दरवाजे और ५७० गोपुर थे।

७. शुंग-सातवाहन—कुशाण-काल

संप्रति के बाद मौर्य साम्राज्य आहिस्ता-आहिस्ता तहस-नहस हो गया और उसकी जगह पर उत्तरापथ, दक्षिण, पूरब और मध्य देश में नए राज्य उठ खड़े हुए।

मौर्य साम्राज्य के साथ ही भारत के पच्छिम का यूनानी साम्राज्य भी टूटने लगा। उसके बाख्त्री या बलख प्रान्त में जो हिंदूकुश के उत्तर लगा है, एक यूनानी सरदार स्वतन्त्र राजा बन बैठा। ईरान में पार्थव जाति

स्वतन्त्र हो गई और उसके राजवंश के कारण वह देश पार्थव (पार्थिया) कहलाने लगा। बलख के दक्खिन, अफगानिस्तान में सुभागसेन नामक एक मौर्य सरदार तब शासन करता था।

इसी समय दक्खिन में सिमुक ने अपना राज्य स्थापित किया। उसके वंश का नाम सातवाहन था। शुरू में इस राज्य के अन्तर्गत महाराष्ट्र था, पीछे आंध्र भी शामिल हो गया और करीब ४५० बरसों तक वह कैसे भारतवर्ष का प्रमुख राज्य रहा, यह हम अभी देखेंगे। कलिंग में चेदिवंश का राज्य स्थापित हुआ। उस वंश का तीसरा राजा खारवेल बड़ा प्रतापी हुआ। उसने विदर्भ (बराड़) तक अपनी प्रभुता जमा ली और दक्खिन में पांड्य राज तक चढ़ाइयाँ कीं। सुभागसेन की मृत्यु के बाद बलख के यूनानी राजा देमेत्रियस ने भारत का उत्तरी मंडल जीत लिया और मध्य-देश पर चढ़ाई कर पाटलिपुत्र तक को आ घेरा। खारवेल ने तब मगध की सहायता की। यूनानियों को खदेड़ता हुआ वह उत्तरापथ तक उनके पीछे गया। मगध के अन्तिम मौर्य राजा वृहद्रथ या वृहस्पतिमित्र को अपने राष्ट्र के उस उद्धारक के सामने झुकना पड़ा। खारवेल जैन धर्म का अनुयायी था। उड़ीसा में भुवनेश्वर के पास हातीगुंफा की चट्टान पर प्राकृत भाषा में उसकी प्रशस्ति खुदी है, जिसमें उसकी विजयों और प्रजाहित के अन्य महत्त्वपूर्ण कार्यों का तिथिवार उल्लेख किया गया है। प्राचीन ऐतिहासिक वाङ्मय का वह एक अनमोल लेख है।

खारवेल के लौटने के बाद मगध मध्यदेश में भी राज्यक्रान्ति हुई और सेनापति पुष्यमित्र शुङ्ग ने निकम्मे मौर्य राजा पर अधिकार कर लिया। पिछले मौर्यों ने अशोक के धर्मविजय शब्द की आड़ में जो अपनी कमजोरी छिपानी चाही, यह उसकी प्रतिक्रिया थी। पुष्यमित्र ने "नित्य उद्यत-दंडता" की नीति ग्रहण की और बौद्ध धर्म की जगह कर्म प्रधान वैदिक धर्म के पुनः प्रचार का प्रयत्न किया। उसकी सारी शक्ति यूनानियों को भारत से निकाल बाहर करने तथा बिखरते हुए साम्राज्य को सँभालने

में ही लगी रही। उसके वंशजों का अधिकार पूरबी पंजाब, विदर्भ और अवंती (आधुनिक मालवे) तक रहा। शुंग राजा पाटलिपुत्र के अलावा अयोध्या में और कभी विदिशा (भेलसा) में भी रहते थे। प्रायः एक शताब्दी तक मध्यदेश में उनका राज्य बना रहा।

उस जमाने में कंबोज और बलख की उत्तरी सीमा पर, आजकल के मध्य एशिया में, शक नामक खाना बदोश जाति रहती थी। कंबोज के पूरबी क्षेत्र से चीन के पच्छिमी छोर तक, आजकल के चीनी तुर्किस्तान में, भी शकों से मिलती-जुलती तुखार और ऋषिक (युशि) जातियाँ विचरती थीं। शक, तुखार और ऋषिक सीमा पर हूण लोग रहते थे, जो चीन के सभ्य इलाके में लूट-मार करते थे। अशोक के समय में चीन के एक सम्राट् ने चीन की उत्तरी सीमा के साथ-साथ एक बड़ी दीवाए बना दी, जिससे हूणों का चीन में घुसना बन्द हो गया। तब वे लोग चीन के पच्छिमी छोर पर ऋषिक लोगों पर धावे मारने लगे। ऋषिक अपना इलाका छोड़ तुखारों को भी साथ खदेड़ते हुए पहले सीर नदी के काँठे में शकों पर आ टूटे और फिर बलख और कंबोज में आ बसे। मध्य एशिया के शक अफगानिस्तान के उत्तर से पच्छिम घूमते हुए उसके दक्खिन शकस्थान (आधुनिक सीस्तान) में, जहाँ शकों की एक दूसरी शाखा रहती थी, चले आए। शकस्थान तब पार्थव राज्य में था और पार्थव राजाओं ने शकों का दमन किया। कालकाचार्य नामक एक जैन साधु उस समय शकस्थान में धर्मप्रचार कर रहा था। वह शक सरदारों को सिंध ले आया (लग० १२० ई० पू०)।

सिंध से शकों की एक शाखा गंधार (उत्तर-पच्छिमी पंजाब) की तरफ बढ़ी और दूसरी ने कच्छ-सुराष्ट्र (काठियावाड़) लेने के बाद अवंती को जा दखल किया (१०० ई० पू०)। अवंती से वे विदिशा और मथुरा को बढ़े और वहाँ शुङ्ग राज्य को समाप्त कर दिया। तब मगध में भी राज्य क्रांति हुई और शुङ्गवंश के स्थान में काण्ववंश का राज्य

स्थापित हुआ। मथुरा से पंजाब की तरफ बढ़ने-पर शकों की दोनों शाखाएँ मिल गईं और राजपूताना और दक्खिन-पूरबी पंजाब के स्वाधीन गण-राज्य (प्रजातन्त्र) उनके कुण्डल में घिर गए। उनसे शकों का संघर्ष बराबर जारी रहा।

उधर शकों ने अपने दक्खिन तरफ सातवाहन राज्य को भी छेड़ा और उससे नासिक और कोंकण के प्रांत छीन लिए। तब सातवाहन राजा गौतमी पुत्र शातकर्णि और शक महाक्षत्रप नहपान में ठन गई। सातवाहनों ने पूरबी राजपूताने के मालव आदि गणों के साथ मिलकर सुराष्ट्र, अवंती और मथुरा से शकों को उखाड़ फेंका (५७ ई० पू०)। अपनी स्वतन्त्रता फिर से स्थापित होने की खुशी में मालवों ने एक संवत का आरंभ किया, जिसे हम आज विक्रम संवत् के नाम से जानते हैं। इसके शीघ्र बाद उत्तरापथ और सिंध से भी शकों का लोप हो गया।

गौतमीपुत्र के बेटे वाशिष्ठीपुत्र पुलुमावी ने काण्व राजा से मगध भी जीत लिया (२८ ई० पू०)। तब से प्रायः सौ बरसों तक सातवाहन भारत के सम्राट् रहे। उनकी दक्खिनी सीमा तामिल राष्ट्रों तक थी, जो उनके आधीन नहीं तो प्रभाव में अवश्य थे।

भारत और पच्छिमी सभ्य जगत् से तब तक चीन का संपर्क न हुआ था। चीन के सबसे पच्छिमी प्रांत कानसू और भारत के सबसे उत्तरी प्रांत कंबोज के बीच ऋषिक-तुखारों के मूल देश में अब भारत और चीन दोनों तरफ से सभ्यता ने प्रवेश किया। भारतीय तो वहाँ अशोक के समय से ही पहुँच गए थे और उन्होंने खोतन में एक आर्य उपनिवेश स्थापित कर दिया था। खोतन की पुरानी ख्याति है कि वहाँ जब पहला आर्य राजा विजयसंभव राज्य कर रहा था, तभी आर्य वैरोचन ने पहले-पहल वहाँ के पशुपालकों को लिखना सिखाया। खोतन शहर जिस नदी के किनारे बसा है, वह खोतन नदी कहलाती है और आगे चल कर यारकंद दरिया में मिल जाती है। यारकंद तारीम में जा मिली है।

यारकंद तुर्की नाम है। उसका पुराना नाम सीता था। चीनी लोग जब वहाँ आए तो सीता नाम प्रसिद्ध हो चुका था। इसी से चीनी भी उसे सी-तो कहने लगे और आज तक भी सी-तो कहते हैं। इस प्रकार चीनियों के आने से पहले ही तारीम के काँठे में भारतवर्ष की सभ्यता और उपनिवेश जम चुके थे। इसी से आधुनिक विद्वान् प्राचीन इतिहास में उस देश को "उपरला हिंद" या चीन-हिन्द (Ser-India) कहने लगे हैं। इस प्रकार ऋषिक-तुखारों के देश में भी भारतीय प्रभाव पहुँच चुका था और जब वे कंबोज-बलख में जा बसे, तब तो वह प्रभाव उन पर और अधिक पड़ने लगा। उनकी बस्तियाँ अब कंबोज (पामीर-बदख्शाँ) और हिंदूकुश के दक्खिन कपिश, कश्मीर और गंधार तक बसी थीं।

ईस्वी सन् के आसपास उनमें एक राजा कुषाण हुआ, जिसने उनके सब फिरकों को एक कर समूचे अफगानिस्तान, कपिश और गंधार को जीत लिया। कंबोज तथा उपरले हिन्द पर भी उसका अधिकार था उसी ने पहलेपहल बौद्ध धर्म की पोथी दूत के हाथ चीन भेजी। कुषाण स्वयं बौद्ध था, पर उसका बेटा विम शैव था। विम ने सारा पंजाब जीत लिया और आगे बढ़ने की चेष्टा की। तब उसका सातवाहनों से संघर्ष हुआ। मुलतान के पास करोड़ के मैदान में सातवाहन राजा से उसका युद्ध हुआ, जिसमें विम खेत रहा।

कुछ समय बाद ऋषिकों में विम का उत्तराधिकारी राजा कनिष्क हुआ। उसने खोतन के राजा विजयकीर्ति के साथ मिल कर गंधार और पंजाब पर दखल जमा लिया और पाटलिपुत्र को भी जीता। मध्यदेश और मगध पूरी तरह कनिष्क के हाथ आ गए। कनिष्क प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् अश्वघोष को पाटलिपुत्र से अपने साथ ले गया। प्रसिद्ध आचार्य चरक भी उसकी सभा में थे। अशोक की तरह कनिष्क ने भी दूर-दूर तक बौद्ध धर्म का प्रचार करवाया। उसके वंश में सम्राट् हुविष्क और वासुदेव

प्रसिद्ध हुए। उनका भी उपरले हिन्द पर अधिकार रहा और वहाँ की राजभाषा इस युग में भारतवर्ष की एक प्राकृत ही रही।

उत्तर भारत में कनिष्क का साम्राज्य स्थापित होने पर सुराष्ट्र में भी उसके शक क्षत्रप स्थापित हो गए। सातवाहनों का साम्राज्य तब केवल दक्खिन में रह गया। सुदूर दक्खिन में तामिल राज्य थे, जिनमें कभी पांड्य, कभी चोल प्रमुख रहे। तामिल और सातवाहन राजाओं ने समुद्री डाकुओं का दलन कर विदेशी व्यापार खूब बढ़ाया। तामिल राजाओं ने ही नदी के मुहाने पर बाँध बना कर सिंचाई के लिए पानी ले जाने का तरीका निकाला, जिसको सारे संसार ने पीछे उनसे सीखा।

जिस तरह उपरला हिन्द बना, उसी तरह इसी युग में पूरब में एक और हिन्द बना, जिसको लोग तब गंगा-पार का हिंद कहते थे और जो अब भी परला-हिंद (Further India) कहलाता है। ऊपर कहा जा चुका है कि महाजनपदों के जमाने में भारत में सामुद्रिक व्यापारी उधर जाने लगे थे और वहाँ सोना मिलने के कारण उसका नाम सुवर्ण भूमि उन्होंने रखा था। जो आज का फ्रांसीसी हिन्दचीन है, वहाँ तक ईस्वी पूर्व की पहली सदी में भारतीय राज्य स्थापित हो चुके थे। पहले कहा जा चुका है कि सुवर्णभूमि के साथ सबसे अधिक और पुराना संबंध चंपा (भागलपुर) के लोगों का था। उन्होंने उसके पूरबी छोर पर चंपा राज्य स्थापित किया और बारह सौ बरसों तक उस चंपा की बड़ी शक्ति और समृद्धि बनी रही। मलक्का, सुमात्रा और जावा द्वीप, ये सब मिलाकर कुछ हिस्सा सुवर्ण द्वीप और कुछ यव द्वीप कहलाते थे। इनमें तथा मदगास्कर द्वीप में भी ईस्वी सन् की पहली सदी में भारतीय बस्तियाँ स्थापित हुईं।

इस प्रकार भारत का विस्तार एक तरफ उपरले हिंद और दूसरी तरफ परले हिन्द तक हो जाने से दोनों ओर से उसका सम्बन्ध चीन के साथ हो गया। परले हिंद होकर भारत और चीन के बीच स्थल और जल मार्ग

दोनों चलते थे। पहली सदी ईस्वी में धर्मदत्त और कश्यप मातंग नाम के दो भिक्षु पहलेपहल चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार करने गए और यह सिलसिला आगे शताब्दियों जारी रहा।

पच्छिम तरफ, भारतीय व्यापारी पच्छिमी एशिया, अबीसीनिया, मिस्र, यूनान और रोम तक अपने जहाज ले जाते थे। १२५ ई० पू० के करीब पहले पहल एक भारतीय व्यापारी से ही मिस्र के यूनानियों को मिस्र से भारत तक सीधे आने का समुद्री रास्ता मालम हुआ। १००ई० पू० के करीब कुछ भारतवासी अपने एक जहाज में भटककर जर्मनी के तट पर एल्ब नदी के मुहाने पर जा लगे थे। रोम का साम्राज्य धीरे-धीरे भूमध्य-सागर के चारों तरफ कायम हो गया। भारतीय व्यापारी रोम साम्राज्य के सब देशों में पहुँचते और वहाँ बहुत बड़ा व्यापार करते थे। हाथी दाँत का सामान, गंध, मसाले, मोती, रत्न और कपड़ा आदि भारत से वहाँ जाते और बदले में हर साल प्रायः छः लाख स्वर्णमुद्रा भारत आती थी। उस युग के एक रोमन लेखक ने लिखा है कि—"यह मूल्य हमें अपनी ऐयाशी और अपनी स्त्रियों के लिए देना पड़ता है।" रोमन स्त्रियों को भारतीय मलमल पहनने का जो शौक था, उसकी शिकायत करते हुए एक दूसरे रोमन लेखक ने लिखा कि—वे 'बुनी हुई हवा की जालियाँ' पहन कर अपना सौन्दर्य दिखाती थीं!

भारत की यह समृद्धि अपने कारीगरों की बदौलत थी, जिनकी श्रेणियाँ इस युग में पहले से भी अधिक संघटित हो गई थीं। श्रेणियों के विषय में अनेक अभिलेख मिले हैं, जिनसे पता चलता है कि वे अब अपना माल बनाने के सिवा बंकों का काम भी करती थीं। नासिक में इस युग का एक शिलालेख है, जिसमें एक राजा के दामाद के, जो उसका सेनापति भी था, २००० और १००० कार्षापण की दो "अक्षयनीवियाँ" अर्थात् स्थायी निधियाँ स्थापित करने की बात लिखी है। ये अक्षय-नीवियाँ इस तरह स्थापित की गईं कि उनका मूलधन खर्च न हो, और उन पर जो सूद आवे, उससे भिक्षुओं को चीवर मिलते रहें। ये दोनों

अक्षयनीवियाँ नासिक के कोरियों (बुनकरों) की दो श्रेणियों के पास धरोहर रक्खी गईं। इसका यह अर्थ है कि बुनकरों की श्रेणियाँ राजा के अपने राज्य से भी अधिक स्थायी समझी जाती थीं। उसी लेख के अन्त में लिखा है कि यह दान निगम सभा अर्थात् नगर की सभा में सुनाया गया और चरित्र (सभा के कानून) के अनुसार फलकवार (लेखा-दफ्तर, रिकार्ड-आफिस) में निबद्ध (रजिस्टर्ड) किया गया। इससे यह मालूम होता है कि राजकीय कार्यों की रजिस्टरी भी नगरों की सभाओं में होती थी। नगरों की तरह जनपदों की भी परिषदें थीं और राजा उनकी सहायता से ही राज्य करते थे।

इस समूचे युग में भारत में सातवाहन साम्राज्य का बड़ा प्रभाव रहा, इसलिए इसको सातवाहन युग कहना अनुचित नहीं होगा।

बौद्ध धर्म की दो प्रधान शाखाएँ इसी काल में हो गईं—एक हीन-यान, जो अब सिंहल और बर्मा में प्रचलित है और दूसरी महायान, जो तिब्बत और चीन आदि में फैली। यह एक अत्यन्त आश्चर्यजनक घटना है कि बौद्ध धर्म अपने जन्म के देश भारतवर्ष से एकबारगी उठ गया और भारतवर्ष के बाहर जाकर स्थापित हो गया और आज भी कायम है। यह बाहर फैलने की घटना प्रायः सातवाहन युग में ही हुई। इसी युग में पौराणिक धर्म, जिसका मूल वैदिक धर्म से ही मिलता है, भारतवर्ष में स्थापित हुआ। संस्कृत भाषा की बड़ी उन्नति हुई और बौद्ध धर्म के ग्रन्थ भी, उसके पहले पाली भाषा में लिखे जाते थे, संस्कृत में ही लिखे जाने लगे। विद्वानों का विचार है कि इसी युग में भारतवर्ष के प्रसिद्ध वैद्य चरक और सुश्रुत, रासायनिक नागार्जुन, मीमांसादर्शन के प्रवर्त्तक जैमिनि, वैशेषिक दर्शनकार कणाद, न्यायदर्शन के संस्थापक अक्षपाद गौतम, वेदांत के प्रवर्त्तक बादरायण हुए। स्मृतियों का निर्माण भी इसी युग में बतलाया जाता है। अमरकोष इसी समय बना। संस्कृत काव्य में कालि-दास के अग्रगामी महाकवि अश्वघोष भी इसी युग के थे। इस युग में

कला की भी बड़ी उन्नति हुई। उस समय के, गुफाओं में काटकर बनाए हुए, चैत्य और मंदिर, जो महाराष्ट्र और उड़ीसा में मिलते हैं, कला के सुन्दर नमूने हैं। एक-एक मंदिर केवल एक-एक चट्टान को काट कर बना है। इनकी कारीगरी आश्चर्यजनक है। भरहुत और साँची के स्तूपों के जँगले और तोरण इसी समय के हैं, जिनकी कारीगरी अद्भुत है।

८. वाकाटक गुप्त-काल

दूसरी शताब्दी के अंत में सातवाहनों का साम्राज्य टूटने लगा और उसकी जगह कई राज्य स्थापित हो गए। उत्तर भारत से भारशिवों ने कनिष्क-वंशजों को निकाल दिया। उनका राज तब काबुल और बलख में रह गया। विंध्य प्रदेश में वाकाटक वंश का भारशिवों का एक सेनापति था, जो विंध्यशक्ति नाम से प्रसिद्ध हुआ। विंध्यशक्ति के बेटे प्रवरसेन ने प्रायः सारे भारत को साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया और वह भारशिव सम्राट् का उत्तराधिकारी बना। तीसरी सदी के अंत में अयोध्या में गुप्त नाम का एक राजा था। उसके पोते चंद्रगुप्त ने मिथिला के लिच्छवियों से संबंध जोड़ कर अपनी शक्ति बढ़ा ली। इसी चंद्रगुप्त का बेटा समुद्र-गुप्त था, जिसने प्रवरसेन की मृत्यु होते ही पाटलिपुत्र पर चढ़ाई की (३४४ ई०), और भारत का दिग्विजय कर साम्राज्य प्राप्त किया। वाकाटकों का राज्य बुन्देलखंड—महाराष्ट्र में बचा रहा। इलाहाबाद के किले में अशोक के स्तम्भ पर समुद्रगुप्त की प्रशस्ति खुदी है, जो अपने ऐतिहासिक महत्त्व के अतिरिक्त संस्कृत काव्य की दृष्टि से भी एक सुन्दर कृति है। उससे मालूम होता है कि भारत के मुख्य भाग के अतिरिक्त काबुल, बलख, सिंहल तथा बृहत्तर भारत के द्वीपों में भी समुद्रगुप्त का आधिपत्य माना जाने लगा था और वहाँ के शासकों ने बहुमूल्य भेंटें भेजकर उसका सिक्का अपने राज्यों में चलाना स्वीकार किया तथा अपने-अपने प्रदेश में शासन करते रहने को उसके परवाने माँगे थे। अद्वितीय विजेता होने के अतिरिक्त वह स्वयं बहुत अच्छा शासक और पंडित भी था।

समुद्रगुप्त का बेटा चन्द्रगुप्त हुआ, जो अपनी विजयों के कारण विक्रमादित्य कहलाया। उसने काबुल और बलख को भी जीता। दिल्ली के पास महरौली की प्रसिद्ध लोहे की लाट पर अत्यन्त ओजस्वी और ललित संस्कृत काव्य में उसी की बलख-विजय की कीर्ति खुदी है। वह लाट पहले पंजाब में हिमालय में थी। बहुत पीछे राजा अनंगपाल ने उसें वहाँ से दिल्ली ले जाकर खड़ा किया।

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य की लड़की प्रभावती का विवाह वाकाटक राजा से हुआ था। अपने पति के मर जाने और पुत्र के छोटा होने से वह स्वयं राज करती थी। चंद्रगुप्त और प्रभावती का राज्य समकालिक था, इसलिए तब समूचा भारत एक तरह से एक साम्राज्य में था। चीन के थियानशान पर्वत से पूरबी चंपा (वर्त्तमान आ नाम या फ्रांसीसी हिन्द चीन) तक समस्त पृथ्वी तब भारतवर्ष में गिनी जाती थी। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के बाद क्रमशः कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त भी बड़े पराक्रमी सम्राट् हुए।

ईस्वी सन् की चौथी सदी के अन्त में हूण लोग उत्तरी-पूरबी एशिया से फिर निकले। उनकी एक शाखा ने यूरोप पहुँच कर रोम साम्राज्य में तबाही मचा दी। दूसरी शाखा मध्य एशिया में आई। बाद में यही हूण अपनी एक शाखा तुर्क के नाम से तुर्क कहलाने लगे और इनके बस जाने से मध्य एशिया तुर्किस्तान बना। मध्य एशिया में हूणों का भारतीय शक-तुखारों और ईरान के सासानी शाहों से मुकाबला हुआ। उन्हें हराकर अफगानिस्तान लाँघते हुए वे भारत के भीतर तक घुस आए। स्कंदगुप्त ने घोर युद्ध के बाद उन्हें हरा कर भगा दिया और सारे साम्राज्य में शान्ति और व्यवस्था फिर से कायम की। हूणों ने उस समय संसार में किसी से हार खाई तो एक स्कंदगुप्त से। स्कंदगुप्त की उस जीत का वृत्तांत एक स्तम्भ पर सुन्दर संस्कृत पद्यों में खुदा है, जो आज भी गाजीपुर जिले के सैदपुर भितरी गाँव में खड़ा है। उस हार के बाद हूणों ने ३० बरस तक

भारत की तरफ मुंह न फेरा। किन्तु स्कंदगुप्त के बाद के गुप्त सम्राट् वैसे योग्य और जागरूक न रहे। उनकी कमजोरी का पता पाकर हूणों ने फिर चढ़ाई की और पंजाब से मालवा तक का प्रदेश दखल कर लिया।

गुप्त सम्राट् जब अपने देश की रक्षा न कर सके, तब यशोधर्मा नामक एक जनता का नेता उठ खड़ा हुआ, जिसने हूणों को कश्मीर तक खदेड़ कर देश को स्वतन्त्र किया। यशोधर्मा ने इसके बाद पूरब के नामधारी गुप्त सम्राट् को पदच्युत कर लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) से महेंद्रगिरि (उड़ीसा) और हिमालय से पच्छिम समुद्र पर्यन्त समूचे देश का राज्य अपने हाथ में लेकर पूरी शान्ति और सुव्यवस्था का शासन स्थापित किया (५३३ ई०), ग्वालियर राज्य के मंदसोर या दासोर नामक स्थान में, जो प्राचीन दशपुर है, एक स्तम्भ के ऊपर ओजस्वी संस्कृत पद्यों में यशोधर्मा की यह कीर्ति-कथा खुदी।

वाकाटक और गुप्त सम्राटों का युग भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग था। भारतीय जीवन-ज्ञान, सभ्यता, संस्कृति; हर पहलू से—इस युग में पूर्णता को पहुँच गया। कला, साहित्य और विचार की दृष्टि से भारतीय मस्तिष्क की उड़ान इस युग में जहाँ तक पहुँच गई, उसकी परिधि को अगले एक हजार बरस तक संसार प्रायः नहीं लाँघ सका। महाकवि कालिदास, ज्योतिषी आर्यभट और वराह मिहिर, दार्शनिक आसंग, वसुबंधु और ईश्वरकृष्ण, बुद्धघोष और दिङ्नाग सब इसी युग में हुए। विष्णु शर्मा का पंचतंत्र, जो संस्कृत के कहानी-साहित्य में अपना जोड़ नहीं रखता, इसी युग की अमर रचना है। इसके अतिरिक्त महाकवि विशाखदत्त और मृच्छकटिककार शूद्रक भी इस युग में ही हुए। स्मृति और धर्म ग्रंथों की अनेक रचनाएँ भी इसी युग की हैं।

गुप्तों की शासन-व्यवस्था बहुत सुसंगठित और आदर्श थी। भारत ने जैसी सुख-शांति और समृद्धि गुप्त-शासनकाल में अनुभव की, वैसी न शायद पहले की थी और न बाद में अभी तक की है। समूचा

गुप्त साम्राज्य बहुत से 'देशों' और 'भुक्तियों' में बँटा हुआ था। इन्हीं में से एक तीरभुक्ति आधुनिक तिरहुत है। प्रत्येक का शासन एक 'गोप्ता' या 'उपरिक महाराज' करता था। देश या भुक्ति छोटे-छोटे विषयों अर्थात् जिलों में बँटी होती थी। शासन के लिए अलग-अलग महकमे थे। गुप्त शासन पद्धति की नकल दूसरे राजाओं ने की और बाद भी उनकी नकल होती रही। उस युग की बहुत-सी मुहरें पाई गई हैं, जिनसे पता चलता है कि ग्रामों और नगरों की पंचायतें स्वतन्त्रतापूर्वक अपना भीतरी प्रबंध करती थीं। जनपदों की संघटित राष्ट्र-सभाएँ भी थीं। वैशाली में व्यापारियों के निगमों और कारीगरों की श्रेणियों की मुहरें काफी संख्या में पाई गई हैं। ये सब श्रेणियाँ पहले से अधिक संघटित और समृद्ध थीं। दूर-दूर के देशों के साथ वाणिज्य-व्यापार चलता था। २७४ ई० में रोम-सम्राट् को एक कश्मीरी शाल भेंट किया गया था, जिसकी नफ़ासत से वहाँ के लोग स्तब्ध हो गए थे। भारतीय उपनिवेश इस युग में और आगे तक फैलते गए। हिन्दी द्वीपावली में भारतीय राज्य बोर्नियो द्वीप के पूरबी छोर तक पहुँच गए, जहाँ चौथी सदी के राजा मूलवर्मा के बनवाए खंभे और संस्कृत के लेख अब भी मौजूद हैं। जावा में भी उसी समय का राज़ा पूर्णवर्मा का संस्कृत का लेख पाया गया है। सुवर्ण-द्वीप में चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के समय शैलेंद्रवंश का राज्य स्थापित हो गया, जो शीघ्र बाद एक साम्राज्य बन गया, जिसमें अड़ोस-पड़ोस के सब द्वीप सम्मिलित हो गए। उन द्वीपों में आज भी ऐसी चीजें मिली हैं, जो उस वक्त की उन्नत कला और समृद्ध दशा का परिचय देती हैं। उस साम्राज्य की राजधानी श्रीविजय थी। श्रीविजय के जहाज पूरब चीन और पच्छिम मदगास्कर और मिस्र तक जाते थे।

उस समय का वर्णन यात्री फाहियान ने लिखा है। वह चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय में कई बरसों तक भारत में रहा था। उसने लिखा है कि भारतवर्ष दुनिया भर से बढ़ कर सभ्य देश है। प्रजा प्रसन्न और

सदाचारी है; लोग नशा नहीं खाते, अपराध बहुत कम होते हैं, दंड बहुत हलके दिए जाते हैं और मृत्युदंड किसी को नहीं दिया जाता। अपनी लम्बी यात्रा में उसको कहीं भी चोर-डाकुओं का मुकाबला नहीं करना पड़ा। वह चंपा (भागलपुर) से ताम्रलिपि (तामलूक) के रास्ते जहाज़ पर सवार होकर सिंहल होते यवद्वीप पहुँचा। यवद्वीप से एक जहाज़ में, जिसमें २०० भारतीय व्यापारी भी थे, वह चीन वापस गया।

इधर फाहियान हिन्दुस्तान में यात्रा कर रहा था, उधर एक भारतीय विद्वान् कुमारजीव चीन पहुँचा और वहाँ बस गया। उसने अश्वघोष, नागार्जुन आदि के ग्रंथों का चीनी में अनुवाद किया। समुद्रगुप्त के समय कोरिया में बौद्ध धर्म स्थापित हो गया और वहाँ भारत की ब्राह्मी लिपि बर्त्ती जाने लगी। यशोधर्मा के समय (५३८ ई०) में जापान देश भी बौद्ध हो गया। कश्मीर का एक युवराज गुणवर्मा बौद्ध भिक्षु बन गया था। उसने यवद्वीप में बौद्ध धर्म का प्रचार किया। इसी युग में वलभी (काठियावाड़) की एक परिषद् में विद्वानों ने जैन आगमों का संपादन किया। अजंता की जिस चित्रकला का हम ऊपर वर्णन कर आए हैं, वह भी इसी युग की है। उसी कला की शैली के चित्र उपरले हिन्द के पूरबी छोर से—चीन के सीमांत से—भी पाए गए हैं और जापान के बौद्ध मठों के चित्रों में भी उसी शैली की नकल की गई है।

ऊपर कहा जा चुका है कि भारत का प्रभाव एक तरफ़ चीन, कोरिया, जापान तक पहुँचा। अगले युगों में वह उत्तर तरफ तिब्बत और मंगोलिया में तथा पच्छिम अरब के रास्ते यूरोप तक भी पहुँचा और यद्यपि इस बात की अभी पूरी खोज नहीं हुई है, पर मालूम होता है कि वह परले हिन्द के द्वीपों के रास्ते दक्खिन अमेरिका तक भी पहुँच गया था।

९. मध्यकाल

यशोधर्मा ने अपना कोई राजवंश नहीं स्थापित किया था। उसके बाद गुप्त साम्राज्य को पुनर्जीवित करने की चेष्टा की गई और पिछले गुप्तों का

एक वंश उठ खड़ा हुआ। पर उसका अधिकार प्रायः बिहार-बंगाल तक परिमित रहा, और मध्यदेश में उसके मुकाबले में मौखरियों का एक नया राजवंश, जिसने हूणों के खिलाफ युद्ध में प्रसिद्धि पाई थी, खड़ा हो गया। मौखरियों की राजधानी कन्नौज थी और अब से वही पाटलिपुत्र के बजाय उत्तर भारतीय साम्राज्य का केन्द्र मानी जाने लगी। महाराष्ट्र-कर्णाटक में चालुक्य नाम का एक नया वंश खड़ा हुआ और तामिल देश पल्लवों के अधिकार में रहा। प्राचीन कुरुक्षेत्र में भी एक नया वंश, जो मौखरियों की तरह हूण-युद्ध में प्रसिद्ध हुआ था, राज करने लगा। छठी सदी के अंत में इस वंश के राजा प्रभाकरवर्धन ने पंजाब-राजपूताना पर अपना अधिकार फैला लिया। उसकी बेटी राज्यश्री का विवाह मौखरि राजा ग्रहवर्मा से हुआ था। प्रभाकरवर्धन की मृत्यु और ग्रहवर्मा के मारे जाने पर राज्यश्री के भाई हर्षवर्धन ने अपनी बहन के प्रतिनिधि रूप में कन्नौज का राज्य भी सँभाला और कुरु-पंचाल की सम्मिलित शक्ति से समूचे उत्तर भारत में साम्राज्य स्थापित किया।

हर्ष के पीछे गुप्त साम्राज्य को फिर खड़ा करने का अंतिम यत्न किया गया, पर कन्नौज के राजाओं के मुकाबले में अंतिम गुप्तों का राज्य मिट गया और ८वीं सदी के पूर्वार्ध में मगध-मिथिला-बंगाल में अराजकता छा गई। उधर अरब में इस्लाम ने एक नई शक्ति को जगा दिया था। अरब लोग रोम साम्राज्य के पूरबी देशों और ईरान को जीतते हुए ७वीं सदी के मध्य में मकरान और अफ़गानिस्तान की सीमा पर पहुँच गए। अगले सवा सौ बरसों में उन्होंने अफ़गानिस्तान पर अनेक चढ़ाइयाँ कीं, पर सब में विफल हुए। वे अफ़गानिस्तान के पच्छिम से उत्तर घूम मध्य एशिया में घुसे और इधर उन्होंने सिंध पर हमला कर उसे जीत लिया (७१२ ई०)। छठी सदी के अन्त में उपरले हिन्द, कश्मीर और हिमालय तराई के प्रदेशों से भारतीय लिपि, धर्म और सभ्यता तिब्बत पहुँची, जिससे तिब्बती लोग जागरित हुए और हर्षवर्धन

के समय वहाँ पहला साम्राज्य स्थापित हुआ। तिब्बती भी अब मध्य एशिया की तरफ बढ़े और ८वीं सदी के अंतिम भाग में उन्होंने खोतन के हिन्दू राज्य को समाप्त कर दिया।

इस बीच ८वीं सदी के मध्य में मगध-मिथिला-बंगाल के नेताओं ने मिल कर गोपाल नामक व्यक्ति को अपना राजा चुन लिया था। राजपूताने में प्रतिहार और दक्खिन में चालुक्य के स्थान में राष्ट्रकूट राजवंश स्थापित हो गए थे। पालों-प्रतिहारों की चढ़ा-ऊपरी में लगभग ८३६ ई० में प्रतिहार राजा मिहिरभोज ने कन्नौज को जीत कर अपनी राजधानी बनाया। और पुण्ड्रवर्धन (राजशाही—पूर्णियाँ) से सुराष्ट्र (काठियावाड़) तक तथा उड़ीसा से कश्मीर-मुलतान की सीमा तक अपना साम्राज्य फैला लिया। इसी मिहिरभोज का बसाया हुआ हमारा भोजपुर है, जिसके नाम से बिहार के पच्छिमी भाग की बोली भोजपुरी कहलाती है। प्रायः एक शताब्दी तक प्रतिहार और राष्ट्रकूट साम्राज्य अपने यौवन पर रहे; उसके बाद वे शिथिल पड़ने लगे और भिन्न-भिन्न प्रान्तों में प्रादेशिक राज्य खड़े हो गए।

मध्य एशिया में जो हूण-तुर्क बस गए थे, उन्होंने वहाँ प्रचलित बौद्ध धर्म को और उसके साथ भारतीय सभ्यता और संस्कृति को अंशतः अपना लिया था। उपरले हिन्द की खुदाई में संस्कृत बौद्ध ग्रंथ और उनके तुर्की अनुवाद भी पाए गए हैं। आठवीं सदी के मध्य में अरबों के मध्य एशिया में सफल होने पर तुर्कों में इस्लाम फैलने लगा। अरब खलीफाओं का साम्राज्य भी शिथिल हो गया और उसमें जहाँ-तहाँ तुर्क सरदारों ने सल्तनतें बना लीं। १०वीं सदी के अंतिम भाग में बोखारा से एक तुर्क सरदार ने गजनी पर चढ़ाई कर वहाँ अपनी जागीर खड़ी कर ली। उसके वंशज महमूद ने ११वीं सदी के आरम्भ में समूचे अफ़गानिस्तान, पंजाब और सिंध को जीत लिया तथा कन्नौज और सुराष्ट्र तक धावे किए।

नवीं सदी के अन्त से तांजोर में एक चोल राजवंश स्थापित था। इस वंश के राजराज और राजेन्द्र चोल सुबुक्तगीन और महमूद गजनवी के समकालिक थे। जैसे गज़नवी सुल्तानों ने भारत के उत्तरी और पच्छिमी राज्यों पर चढ़ाइयाँ कीं, वैसे ही इन चोल राजाओं ने दक्खिनी और पूरबी राज्यों पर चढ़ाइयाँ कीं। राजेन्द्र चोल ने तो अपने जंगी बेड़े से बर्मा और श्रीविजय साम्राज्य (सुमात्रा, जावा, मलक्का) पर भी चढ़ाई कर उन्हें जीत लिया।

मालवा का राजा भोज, जिसकी राजधानी धारा थी; और चेदि का राजा कर्ण, जिसकी राजधानी त्रिपुरी थी, महमूद और राजेन्द्र के समकालिक थे। उन दोनों के राज्य भारत के ठीक बीच में होने से तुर्कों और तामिलों की चढ़ाइयों से बचे रह गए थे। ग्यारहवीं सदी के मध्य में वे दोनों दूसरे सब राज्यों से प्रबल हो उठे। अन्य प्रदेशों में भी कुछ में नए प्रादेशिक राज्य उठ खड़े हुए, कुछ में पुराने ही सँभल गए और पौने दो सौ बरसों तक उन्होंने देश में शान्ति और व्यवस्था बनाए रक्खी। सरहिंद से पूरब का प्रदेश तुर्कों से वापस लिया गया। कन्नौज में गाहड्वाल या गहरवार राजवंश स्थापित हुआ, जिसने मगध को भी जीत लिया और मिथिला को अपने आधिपत्य में ले लिया। किन्तु ईस्वी सन् की बारहवीं सदी के अंत में जब उत्तर भारत पर तुर्कों का दूसरा हमला हुआ और तेरहवीं-चौदहवीं की संधि पर दक्खिन भारत पर, तब प्रायः सभी हिन्दू राज्य घुन-खाए पेड़ों की तरह दो-चार ठोकरें खा-खा कर गिरते गए।

यशोधर्मा के बाद प्राचीन काल का अंत और मध्य काल का आरंभ माना जाता है। यह स्पष्ट है कि गुप्त काल के बाद भारतीय राज्यों ने कोई उन्नति नहीं की, बल्कि धीरे-धीरे उनकी अवनति होती गई। तो भी यह बात भूलनी न चाहिए कि अरबों के मुकाबले में ईरान जैसे एक ठोकर में ही गिर गया और रोम साम्राज्य ने अपना बड़ा हिस्सा गँवा दिया, वैसी बात भारत में न हुई, और छः शताब्दियों तक यहाँ मुकाबला

सल्तनत का युग है। इस युग में तुर्कों की प्रधानता रही, तो भी अनेक प्रांतों में हिन्दुओं ने अपनी स्वतंत्रता बनाए रखी। वैसे प्रांतों में मिथिला का प्रथम स्थान है। दिल्ली और लखनौती में तुर्क सल्तनत स्थापित हो जाने पर भी मिथिला में सन् १३२५ ई० तक कर्णाट राज्य स्वतंत्र बना रहा। उसके बाद प्रायः तीस-चालीस बरस ही मिथिला पर दिल्ली का अधिकार रहा था कि कामेश्वर ठाकुर के वंशजों ने उसे फिर स्वाधीन कर लिया और पंद्रहवीं सदी के अंत तक स्वाधीन रक्खा। कर्णाटों और ठाकुरों के शासनकाल में मिथिला में अनेक विद्वानों को आश्रय मिला। विद्यापति ठाकुर कामेश्वर-वंश के ही आश्रित थे। स्मृति-ग्रंथों पर अनेक निबंध इस युग में मिथिला में लिखे गए।

१०. समाज व्यवस्था का साहित्य

भारतवर्ष की सामाजिक, पारिवारिक और वैयक्तिक जीवनचर्या के विकास को समझने के लिए धर्मशास्त्रीय ग्रंथों का अध्ययन बहुत आवश्यक है। इन ग्रंथों में एक ओर जहाँ व्यक्ति के विभिन्न कर्तव्यों के आदर्श ग्रथित हुए हैं वहाँ दूसरी ओर उत्कृष्ट सभ्यता, शिष्टाचार, सामाजिक व्यवहार, नैतिक, विधि सम्बन्धी और धार्मिक विश्वासों का सविस्तर उल्लेख है। जाति पर प्रभाव डालने वाले आचारों—विशेषतः विवाह सम्बधी नियमों और उत्तराधिकार सम्बन्धी विधियों—को भी इन्हीं ग्रंथों के आधार पर समझा जा सकता है। बहुत-सी स्मृतियाँ लोक-प्रचलित रीति-रवाजों की भी चर्चा करती हैं। इनका पुराना रूप धर्मशास्त्रों के रूप में प्राप्त होता है। विद्वानों ने गौतमीय धर्मशास्त्र को सबसे पुराना माना है। यह सामवेद की राणायनीय शाखा से सम्बद्ध है। यद्यपि इसमें भी परवर्ती काल के कुछ प्रक्षिप्त अंश खोजे गए हैं पर इसका मूल रूप क़ाफ़ी पुराना है। विद्वान् इसे पाणिनि के पहले का

बताते हैं। कुछ ऐसा ही पुराना, तीस अध्यायों का हारीतधर्मशास्त्र था जो केवल एक हस्तलेख में सुरक्षित है। वाशिष्ठ धर्मशास्त्र में इन दोनों की चर्चा है। और भी पुराने धर्मशास्त्र अवश्य रहे होंगे परन्तु सब उपलब्ध नहीं होते। बौधायन और आपस्तम्ब के धर्मशास्त्र भी बहुत पुराने हैं। यद्यपि वैष्णवधर्मशास्त्र अपने प्राचीनतम रूप में नहीं मिला है, उपलब्ध प्रतियों में परवर्ती तत्त्व मिल जाते हैं तथा कृष्णयजुर्वेद की राणायनीय-शाखा के एक धर्मसूत्र में इसके पुराने रूप का आभास मिलता है और यह अनुमान किया जा सकता है कि मूल रूप में यह शास्त्र भी काफ़ी प्राचीन है। इन ग्रंथों के पाठ की असन्तोषजनक स्थिति का कारण कदाचित् यह है कि बीच में कोई ऐसा समय आया था जब वैदिक परम्परा के संरक्षण के प्रयास में शिथिलता आ गई थी। इसी काल में अनेक पुराने धर्मशास्त्र विलुप्त हो गए होंगे। परन्तु महाभारत में, परवर्ती स्मृतियों में और पुराणों में उनकी बहुत-सी बातें सुरक्षित हैं। धर्मशास्त्रों की दृष्टि अर्थशास्त्रीय परम्परा से भिन्न थी। धर्मशास्त्र की दृष्टि शुद्ध नीति और परलोकगामी थी जब कि अर्थशास्त्रीय दृष्टि तात्कालिक लाभपरक और यथार्थवादी थी।

महाभारत में राजनीति और समाजनीति विषयक साहित्य है जो बहुत कुछ पुराने धर्मशास्त्रों पर आधारित जान पड़ता है। महाभारत में भी और पुराने धर्मशास्त्रों में भी 'मनु' का बराबर उल्लेख मिलता है। वर्तमान मनुस्मृति को परवर्ती काल की रचना माना जाता है पर यह सभी स्वीकार करते हैं कि यह ग्रंथ किसी पुराने मनु-लिखित धर्मशास्त्र का परिवर्द्धित रूप है। वृद्धमनु और वृहन्मनु के नाम से ऐसे अनेक वचन पाए जाते हैं जो वर्तमान मनुस्मृति में नहीं हैं। ऐसा जान पड़ता है कि वर्तमान मनुस्मृति में पुराने मानव धर्मशास्त्र का कुछ अंश किसी कारणवश छोड़ भी दिया गया है। जो हो, मनुस्मृति है बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रथ। मनुस्मृति के सिवा और भी बहुत से स्मृति-ग्रंथ उपलब्ध हैं। कुछ

बातों में ये स्मृतियाँ पुरान धर्मशास्त्रों से विशेष हैं। इनमें सभी जातियों के धर्मों के व्यवस्थापन का प्रयास है। धर्मसूत्रों से उनकी भिन्नता इस बात में है कि उनमें राजा के धर्मों का बहुत अधिक विस्तार के साथ वर्णन किया गया है और साथ ही व्यवहार और दण्डविधि (सिविल और क्रिमिनल लॉ) को बहुत स्पष्ट और सुलझे रूप में उपस्थित किया गया है। यह भी स्पष्ट है कि स्मृतिकारों ने तत्काल प्रचलित रीति-रवाजों का भी संग्रंथन किया है।

इन स्मृतियों में मनुस्मृति सबसे महत्त्वपूर्ण है। यह एक बहुत पुराने मनु-लिखित धर्मशास्त्र का परिवर्द्धित और प्रतिसंस्कृत रूप है। वर्तमान मनुस्मृति के २६० श्लोक महाभारत में प्रायः शब्दशः मिल जाते हैं। अन्यान्य स्मृतियों में भी मनु के वचनों से मिलते-जुलते वचन पाए जाते हैं। नीत्शे नामक जर्मन विद्वान ने इसे बाइबिल से भी उत्कृष्ट ग्रंथ कहा था यद्यपि आधुनिककाल के समीक्षक इसमें एक प्रकार की मानसिक संकीर्णता भी बताते हैं। ए० बी० कीथ ने इस ग्रंथ के बारे में लिखा है—

"परन्तु मनस्मृति का महत्त्व केवल एक धर्मशास्त्र की पुस्तक के रूप में नहीं है, वरन् उसकी निश्चितरूप से तुलना Lucretius के महान काव्य से करनी चाहिए, जिसके साथ जीवन के दर्शन की अभिव्यक्ति के रूप में भी इसका स्थान है। परन्तु उस काव्य के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि जिन विचारों को उसमें दिखलाया गया है वे केवल एक विस्तृत, न कि निर्देशप्रद (Commanding) प्रभाव वाले एक सम्प्रदाय के थे; मनुस्मृति में एक जाति (या राष्ट्र) के एक बड़े विभाग की अन्तरात्मा (Soul) प्रतिफलित है। वैयक्तिकता का अभाव भी ग्रंथ की एक विशेषता है, जो पारस्परिक मिथ्याविश्वास की निष्ठुरता के विरुद्ध Lucretius के 'केवल धार्मिक सम्प्रदाय ही बुराइयों को समाश्रय दे सकता है', जैसे भावोद्वेग से पूर्ण कथनों के साथ अतीव वैसादृश्य का सम्पादक है। इसके स्थान में मनुस्मृति के ग्रंथकार के लिए दैवी शक्ति द्वारा सृष्ट इस संसार में सब कुछ पूर्णतया

व्यवस्थित है, आत्यंतिक न्याय के सिद्धान्त के अनुसार उस शक्ति द्वारा नियन्त्रित है। नास्तिक लोग विद्यमान थे, परन्तु तीक्ष्ण भर्त्सना के साथ उनकी उपेक्षा कर दी जाती है; लेखक के विचारों में नागरिक और व्यावहारिक जीवन के लिए कोई स्थान नहीं है। उनके स्थान में वह एक ऐसे सादे राज्य को अपने समक्ष में रखता है जिससे प्रधान स्थान ब्राह्मणों का है और जिसमें राजा उनके साथ घनिष्ट एकमत्य में उन्हीं के अनुशासन को कार्यान्वित करता हुआ रहता है, वैश्यों और शूद्रों को जो जनता के विशाल परिमाण को बनाते हैं, अभिस्वीकार किया गया है, परन्तु उनके विषय को एक विचित्र संक्षिप्तता के साथ समाप्त कर दिया गया है और जनता की उस विशाल संख्या की आख्या के लिए, जिसकी वैश्यों और शूद्रों में भी गणना नहीं की जा सकती थी, वर्ण-सांकार्य के सिद्धान्त से बढ़कर, जिसके अन्दर ही यवनों और शकों को भी ठूँस दिया गया है, कोई और समाधान उपस्थित नहीं किया गया है। ग्रंथ पर संकीर्ण-मतवाद का भारी दबाव वर्तमान है, और उसका पाण्डित्य-प्रदर्शन सदाचार के अत्यंत लघु व्यतिक्रमों को ऐसे अपराधों के रूप में दिखाने में दृष्टिगोचर होता है जिसके लिए गम्भीर दण्ड, यदि इस लोक में नहीं तो, परलोक में आवश्यक होता है, परन्तु जिसका प्रतिकार ब्राह्मणों द्वारा आदिष्ट प्रायश्चित्तों से किया जा सकता है— जो लाभप्रद व्यापार का एक स्रोत था। किसी स्पष्ट योजना को विकसित करने में असफलता प्रत्यक्ष है, परन्तु यह बात विचार के भारतीय ढंगों के सर्वथा अनुरूप है। विधि के विचारणीय विषयों के वर्गीकरण में, कुछ उन्नति भी देखने में आती है, जो निःसन्देह विधि के विभिन्न सम्प्रदायों पर आधारित हैं, क्योंकि वे पाँच विषय जिनका सम्बन्ध दण्ड-विधि से है, इकट्ठे एक साथ दिए हुए हैं, यद्यपि वे व्यवहार विधि के प्रकरणों के बीच में आते हैं। किञ्च, आदिम विधि की प्राचीन कठोर क्रूरता के साथ-साथ ग्रंथ में केवल कृत्य ही नहीं,

अपितु कर्त्ता के अभिप्राय के विचार की आवश्यकता की मान्यता दिखाई देती है। परन्तु विधि जनता के स्वत्वाधिकार के रूप में नहीं, किन्तु राजा के विशेषाधिकार के रूप में दृष्टिगोचर होती है, और राजा की पवित्रता केवल ब्राह्मण की पवित्रता से ही कम है। देवताओं के अंशों से उसकी सृष्टि की गई है, निःसन्देह यह विचारपूर्वक बौद्धों के इस सिद्धान्त पर आक्रमण है कि सामाजिक संविदा (Social contract) के आधार पर राजा केवल अपने वेतन को पाने वाला है। उक्त सिद्धान्त को अपेक्षाकृत अधिक वास्तविकता-वादी अर्थशास्त्र ने वास्तव में घोषित भी किया है। राजा गंभीरतम अपराधों को छोड़कर अन्य सब अपराधों के दण्डों से उनके मुक्ति के दावों को मानकर अपनी सहायता करने वालों को पुरस्कृत करता है। ग्रंथ में उच्चस्थिति वालों से चारित्र्य-विषयक उदात्ततरमान (Standard) की साग्रह माँग के बदले में निम्न-कोटि के लोगों की अपेक्षा अधिक सम्मान देने का बराबर आग्रह किया गया है। ब्राह्मणों के लिए की गई इन माँगों में और विधि परक मांगों में बराबर देखने में आने वाली अस्पष्टता में, एक व्यवहार-प्रवीण विधिज्ञ की अपेक्षा एक सिद्धान्तवादी (Theorist) का हाथ सरलता से देखा जा सकता है। हम विधि को निश्चय ही देखते हैं, परन्तु थोड़ा बहुत आकार को विकृत करने वाले माध्यम के द्वारा, जिसमें नैतिक विचार हमारी दृष्टि को तिरोहित कर देते हैं; तथा च, दिव्य (ordeal) के पक्ष में यातना के उपयोग की, जिसके लिए अर्थशास्त्र का आग्रह है, उपेक्षा कर दी गई है। ब्राह्मण लोग आदर्श के आधार पर तथा इस प्रकार शासन में उनकी सहायता की आवश्यकता होने से यातना की अपेक्षा दिव्य-परीक्षण को पसन्द करते थे। लेखक की भावना से बौद्धिक दृष्टि निश्चित रूप से बिल्कुल बाहर की वस्तु है; परन्तु उसका भाषा पर अधिकार, उसकी उद्युक्तता (अथवा निश्छद्मता), उसकी प्रसन्न उपमाएँ, उसका अवधानता-पुरस्सर प्रयुक्त छंद जो

लगभग संस्कृत महाकवियों की शुद्धता के पान तक पहुँच जाता है, पर साथ ही पौराणिक काव्य के वैलक्षण्य के कुछ प्रभाव को भी कुछ सुरक्षित रखता है—ये सब बातें मिलकर ग्रंथ को एक उल्लेखनीय वैशिष्टय प्रदान करती हैं," (पृ० ५२४–५२६)।

स्मृतियों की संख्या बहुत है। जॉली ने अपनी सूची में १५२ स्मृतियों को गिनाया है। मनुस्मृति के बाद की सबसे महत्त्वपूर्ण स्मृति याज्ञवल्क्य स्मृति है। इसका विषय-क्रम आधुनिक विद्वानों की दृष्टि में मनु की स्मृति से भी उत्कृष्ट है। इसमें आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त का विस्तारपूर्ण निरूपण है। मनु द्वारा बताए गए अट्ठारह विवाद-पदों के साथ इसमें सेवा-पद संबंधी विवाद भी जोड़ा गया है और और भी कई छोटे-मोटे विवादों पर विचार किया गया है। दृष्टि तो इसकी मनु के ही समान है पर कुछ बातें अधिक हैं। इसमें भ्रूण विज्ञान की भी चर्चा है। इस स्मृति पर कई महत्त्वपूर्ण टीकाएँ हैं जिनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा। कानून पर यह टीका महत्त्व की कृति है। दक्षिण में तथा काशी और उत्तर भारत के अनेक प्रदेशों में मिताक्षरा प्रमाण मानी जाती है। कोलब्रुक के भाषान्तर द्वारा इसके दाय भाग प्रकरण को अंग्रेज़ी अदालतों में प्रचलन प्राप्त हो गया। विज्ञानेश्वर ने किसी विश्वरूप नामक आचार्य की टीका का उपयोग किया था। मिताक्षरा सन् ईसवी की ग्यारहवीं शती में लिखी गई थी। इसके कुछ बाद बारहवीं शती में अपरार्क ने एक टीका लिखी थी। इस स्मृति की एक रोचक टीका (जो वस्तुतः इसकी टीका मिताक्षरा की टीका है) बालभट्ट वैद्यनाथ और उनकी पत्नी लक्ष्मी देवी की लिखी है जिसमें पैतृक सम्पत्ति पर स्त्रियों के अधिकार पर बल दिया गया है। स्मृतियों के अतिरिक्त धर्मशास्त्रीय निबंध-ग्रंथों का बहुत विस्तृत साहित्य संस्कृत में उपलब्ध हैं जो संग्रह-ग्रंथ जैसे हैं परन्तु सामाजिक और धार्मिक जीवन के अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण हैं।

स्मृति-कल्पतरु , स्मृति-चन्द्रिका, चतुर्वर्ग-चिन्तामणि, मदन-पारिजात, स्मृति-रत्नाकर, दायभाग, निर्णय सिन्धु, रघुनन्दन-स्मृति-निबन्ध, भगवन्त भास्कर, वीर मित्रोदय आदि ग्रंथ धर्मशास्त्रीय विश्वकोष हैं। इन ग्रंथों से ही भारतवर्ष के सुदीर्घ इतिहास में जनता की आन्तरिक स्थिति का पता चल सकता है। राजनीतिक हलचलों के अन्तराल में हमारे देश की जनता की जीवन्त मनोदशा, उसके मनोवांछित आदर्श और उसकी चिर-प्रचलित रीति-नीतियों को समझने के लिए हमें इन धर्मशास्त्रीय ग्रंथों की शरण जाना पड़ता है। केवल धर्म की दृष्टि से ही नहीं, व्यावहारिक जीवन की दृष्टि से भी ये ग्रंथ बहुत उपयोगी हैं। इनका विधिवत् अध्ययन हमारे इतिहास की अनेक गुत्थियों को सुलझा सकता है।

बहुत प्राचीन काल से ही धर्म के साथ अर्थ और काम को भी पुरुषार्थों में गिना गया है। यह प्रतिबंध अवश्य लगा दिया गया है कि अर्थ धर्म के विरुद्ध न हो और काम, धर्म और अर्थ के विरुद्ध न हो। इस प्रकार धर्म की महत्ता सबने स्वीकार की है। अर्थशास्त्र व्यावहारिक जीवन को समझने की कुंजी है। पुराने ग्रंथों से पता चलता है कि अर्थशास्त्र की परम्परा भी बहुत पुरानी है। महाभारत (१२-५९) बताता है कि ब्रह्मा ने धर्म और अर्थ तथा काम के संबंध में एक लाख अध्यायों में एक विशाल ग्रंथ लिखा था जिसे मनुष्यों के आयुष्य की कमी का ध्यान रखते हुए विशालाक्ष ने दस हजार अध्यायों में संक्षिप्त किया, फिर इन्द्र ने पाँच हजार अध्यायों में, और बृहस्पति ने तीन हजार अध्यायों में संक्षिप्त किया। ये ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं। इस विषय का सबसे व्यवस्थित और पुराना ग्रंथ कौटिलीय अर्थशास्त्र है जिसमें बृहस्पति, वाहुदंतीपुत्र, विशालाक्ष और उशनस नामक आचार्यों का उल्लेख है। स्वयं महाभारत में राजनीति और ,अर्थ-नीति की अनेक स्थलों पर विस्तृत चर्चा है। परन्तु, जैसा कि ऊपर कहा गया है कौटिल्य का अर्थ-

शास्त्र ही सबसे पुराना और व्यवस्थित अर्थशास्त्र उपलब्ध होता है। कहा जाता है कि यह ग्रंथ चन्द्रगुप्त मौर्य के मन्त्री कौटिल्य या चाणक्य का लिखा हुआ है। कुछ विद्वान इसे बाद की रचना मानते हैं। सन् १९०९ ई० में इस ग्रंथ का पता आधुनिक विद्वानों को लगा। इस ग्रंथ में सम्पत्ति शास्त्र, ग्राम्य व्यवसाय, व्यापार, उद्योग, राजनीति, गुप्तचर व्यवस्था, सैन्य संगठन, पुलिस का संगठन, दण्ड, कर, सन्धि, विग्रह, द्यूत, भेद-नीति आदि का सांगोपांग विधिवत् वर्णन है। इसके अध्ययन से राष्ट्र, दुर्ग, कोष, बल और सुहृद् राजाओं की व्यवस्था का पता चलता है। राज-व्यवहार, कानून, शासन-व्यवस्था, न्याय-व्यस्वथा आदि के बारे में इसमें स्पष्ट और सयुक्तिक निर्देश है। भारतीय व्यावहारिक जीवन के सिद्धान्तों को समझने में यह ग्रंथ बहुत सहायक सिद्ध हुआ है। इससे यह भी पता चलता है कि इससे पूर्व और भी अनेकों अर्थशास्त्रीय ग्रंथ विद्यमान थे। परवर्ती ग्रंथों में चाणक्य के शिष्य कामंदकि का नीति-सार, जो सम्भवत: छठी शती में लिखा गया था, बहुत उपयोगी है। जावा के कवि साहित्य में इसकी चर्चा पाई जाती है। इसी तरह यशस्तिलक का नीति-वाक्यामृत है। शुक्रनीति परवर्ती काल का मान्य ग्रंथ रहा है और मध्यकालीन राज्य व्यवस्था पर इसका बड़ा प्रभाव रहा है। युक्ति-कल्पतरु, नीति-रत्नाकर, नीति प्रकाशिका आदि ग्रंथ परवर्ती काल के हैं। अर्थशास्त्रीय ग्रंथों की दृष्टि अधिक व्यावहारिक और ऐहिक है। ये हमारे समाज के यथार्थरूप को समझने में बड़े सहायक हैं।

: ५ :

उपसंहार

१. संस्कृत अध्ययन की उचित दिशा

मैं इतनी देर तक और इतना संस्कृत साहित्य के अध्ययन से निकले नतीजों पर कह गया और तो भी मैं जानता हूँ कि विद्वान् लोग समझेंगे, और ठीक ही समझेंगे कि जो कुछ मैंने कहा है वह बहुत कम है और अधूरा है। महत्त्व उसका इससे इससे कहीं अधिक है। मेरा कहने का तात्पर्य यह है कि उसमें जितना गहरा जाया जाय, उतने ही सुन्दर और मूल्यवान् रत्न उसमें से निकाले जा सकते हैं।

मैंने ऊपर कहा है कि आधुनिक रीति से संस्कृत का अध्ययन यूरोपीय विद्वानों ने आरम्भ किया था। इस देश में संस्कृत के पठन-पाठन की रीति तो बराबर चली आ रही है और वह कभी बंद नहीं हुई। पर आज से प्रायः ११-१२ सौ बरस पहले उसकी उन्नति का स्रोत बंद हो गया। इतने दिनों में उसमें उस प्रकार के ग्रंथ नहीं लिखे गए और न उसके पंडितों ने संसार की विद्या में किसी प्रकार का इज़ाफा किया है। ऐसा जान पड़ता है कि अपनी तरुण अवस्था में पहुँचकर मानो उस पर किसी आगंतुक व्याधि ने हमला कर दिया और उसको निपंग बना दिया। विद्वानों ने अध्ययन किया, पर उनमें वह प्रतिभा नहीं देखने में आती, वह शक्ति नहीं नज़र आती, वह खोज की पिपासा, वह निर्भीकता नहीं मिलती, जिसके बिना कोई भी मौलिक काम नहीं हो सकता। आज फिर कुछ ऐसे लक्षण दीखने लगे हैं कि संसार में एक नई लहर चलेगी और वह बहुत कुछ इसमें अंतर डालेगी। इसमें क्या संस्कृत विद्वानों का भी

कुछ हाथ रहेगा ? क्या वे भी आज की जटिल समस्याओं के सुलझा में कुछ मदद पहुँचावेंगे ? क्या वे भी इस देश की कठिनाइयों को दू करने में कुछ भाग लेंगे ? अथवा वे पिष्टपेषण करके ही अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेंगे ? यद्यपि आविष्कार और मौलिकता के स्रोत को रुके प्रायः हजार-बारह सौ बरस हो चुके हैं, पर जो कुछ उसके पहले हमारे पूर्वजों ने किया था, उसका असर बहुत दिनों तक रहा और आज भी हमारे जीवन में है। उन्होंने जो नींव डाली थी, उसी पर आधुनिक समय की नींव भी है। मुसलमानी राज्य के समय हमारी सभ्यता और संस्कृति बहुत अंशों में अछूती बच गई और मुसलमानों ने भी उससे बहुत कुछ अपनी रोजाना की ज़िन्दगी में लिया। यह कोई नहीं कह सकता कि जो कुछ मुसलमान साम्राज्य ने भारत में किया उसमें हिंदुओं की कुछ देन नहीं है। आज यही सोचना और देखना है कि क्या इस अध्ययन में हम ऐसी जान डाल सकते हैं कि वह फिर सजीव हो उठे और सजीव होकर नई उत्पत्ति का कारण बन सके ? उसमें जान है—नहीं तो हम, हमारी सभ्यता और संस्कृति, आज तक जीवित नहीं रहते। इतने हमलों को सहकर भी जीवित रहना कोई कम गौरव की बात नहीं है। आज इसमें फिर मृतसंजीवनी भरने की जरूरत है, इसका कायाकल्प करने की जरूरत है, और तब हम देखेंगे कि फिर हम इसके सहारे उठ सकते हैं—अपने पैरों पर खड़े हो सकते हैं, और, अगर ईश्वर ने मदद की तो, औरों के आगे होकर चल सकते हैं।

सर जगदीशचंद्र बसु ने जब यह आविष्कार किया और आधुनिक यंत्रों द्वारा आधुनिक रीति से प्रमाणित कर दिया कि पौधों और धातुओं में भी उसी तरह की जीवन-शक्ति है, जिस तरह की जानवरों और मनुष्यों में—वह उसी तरह सोते हैं और जागते हैं—खाते हैं और रहते हैं—और मरते हैं—औषध और विष का उन पर भी असर पड़ता है, तो वे सहसा कह उठे कि मैंने आज कोई नई चीज नहीं निकाली या

ाणित की है—मैंने वही बात आधुनिक रीति से देख ली है और खला दी है, जिसको हमारे पूर्वजों ने गंगा के किनारे और भारत के ंगलों में आज से सहस्रों बरस पहले देखा और दिखलाया था और प्रमाणित तथा घोषित किया था। क्या हमारे दूसरे विद्वान् इसी प्रकार पूर्वप्रचारित तथ्यों को आधुनिक जामा पहनाकर संसार के सामने ा सकते हैं ? क्या वे संसार की संपत्ति में कुछ दान दे सकते हैं ? ा विश्वास है कि हम जरूर कर सकते हैं और हमको करना भी ाहिए। पर इसके लिए हमें अपने को तैयार करना है, योग्य बनाना और इस तैयारी में कुछ नया लेना होगा—कुछ पुराना छोड़ना ोगा। एक प्रकार से हमें पुनर्जन्म लेना है और जन्म के साथ जो कष्ट अनिवार्य हैं, उन्हें सहना पड़ेगा। इसका एक उपाय है—पठन-पाठन की रीति में कुछ हेर-फेर।

मैं मानता हूँ कि संस्कृत अध्ययन की जो रीति परंपरा से चली आई है वह अपने ढंग की अच्छी है। हमने उस रीति से शिक्षित पंडितों को देखा है और ऐसे पंडितों को भी देखा है, जिन्होंने उस रीति से संस्कृत विद्या में शिक्षा नहीं पाई और नए ढ़ंग से हम जिस तरह अंग्रेजी पढ़ते और सीखते हैं, उसी तरह से संस्कृत भी सीखी है। मेरी तुच्छ सम्मति में पुराने ढंग की शिक्षा पंडितों को प्रस्तुत विद्या देती है—ाको किसी बाह्य पदार्थ पर बहुत निर्भर करने की जरूरत नहीं ती। ग्रंथों को भी वे बहुत कुछ मुखस्थ ही रखते हैं। यह एक बड़ी ा है और संसार की सभ्यता में हमने बाह्य पदार्थों पर कम से कम ्भर न रहने की सीख अनेक प्रकारों से दी है। मैं चाहता हूँ कि पद्धति जारी रहे। इसके विना वह गहराई नहीं आ सकती, जिसकी हमें ज़रूरत है; पर हमको यह भी मानना पड़ेगा कि इतना ही काफी नहीं है। अब केवल संस्कृत की प्राचीन विद्या से ही काम नहीं चलेगा। जो कुछ संसार के विद्वानों ने आज तक कर दिखाया है, उसको भी हमें

जानना चाहिए और यह देखना चाहिए कि नए और
और सामंजस्य हम कैसे कर सकते हैं। मेरा विश्वास
हम फिर भी संसार की विद्या में बहुत कुछ दे सकेंगे।

उदाहरण के लिए आयुर्वेद को लीजिए। आज
नए यंत्र आविष्कृत हुए, उनसे लाभ उठाना चाहि
हमारे कुछ सिद्धांतों पर भी इस प्रकार की पुनर्विचार
उससे न तो डरना है और न भागना। मैं मानता हूँ कि उससे ....
उठाकर ही संसार की विद्या में इजाफा कर सकते हैं; और आयुर्वेद को केवल हजारों बरस पहले के नुस्खों का भांडार ही न रहने देकर उसके द्वारा चिकित्सा और निदान के नए प्रकार भी निकाल सकते हैं। क्या संसार में कोई नई जड़ी-बूटी या धातु नहीं है, जिस पर हम आज प्रयोग कर सकते हैं? क्या कोई नया रोग या पुराने रोग की नई चिकित्साविधि नहीं हो सकती? क्या पुरानी ओषधियों के प्रयोग का नया प्रकार नहीं हो सकता है? यह सब हो सकता है। मगर तभी जब हम प्रयोगों से न डरें। नई पद्धति को जानकर और उसका पूरा अध्ययन करके हम उसे दूषित समझ लें और छोड़ दें तो कोई हर्ज नहीं; पर उसके बिना जाने ही यह मान लेना कि कोई पद्धति हो ही नहीं सकती, भारी भूल है और ऐसा करने से हम कूपमंडूक की तरह नई रोशनी से वंचित हो जाते हैं—अपने छोटे दायरे को ही सारा संसा मान लेते हैं।

इसी प्रकार राजनीति को लीजिए। मैंने ऊपर कहा है कि प्रजातंत्र अथवा गणतंत्र भारत के लिए कोई नई बात नहीं है। विशेषकर हम विहारियों के लिये तो वह पुरानी और परिचित चीज है। आज संसार में तरह-तरह के सिद्धांतों और विचारों का प्रचार हो रहा है। हमारे युवक योरोपीय पुस्तकों को पढ़ते हैं और मान लेते हैं कि जो कुछ उनमें लिखा है, वही एकमात्र सत्य है और उसी के प्रचार में लग जाते